* श्रीः *

प्रस्तावना।

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दन ।
पार्थो वत्स सुधीर्भोक्ता दुग्ध गीतामृत महत ॥

गीताके हिन्दी भाषान्तरकी प्रस्तावना ही क्या हो सकती है? जो ग्रन्थ अज्ञात हो, उसकी प्रस्तावना लिखकर जनसाधारणको उसका परिचय दिया जा सकता है। पर जो गीताभास्कर आज सहस्रो वर्षोंसे अपने ज्ञानकिरणोंसे समस्त भारतवर्षको आलोकित कर रहा है, उसको प्रस्तावनादीपक दिखानेका उपहास्य प्रयत्न करनेकी आवश्यकता ही नही थी। पर गीता कल्पवृक्ष है, इससे सब प्रकारके और सब विचारोंके मनुष्य अभीष्ट फल पाते हैं। भिन्न भिन्न भाष्यकारोंने इसके भिन्न भिन्न अर्थ किये है तथा यह विचित्रता दिन २ बढती ही जाती है। अतएव यह अल्पमति लेखक गीताका मर्म्म क्या समझा है, यह सुधीजनोंको बताकर भ्रमनिवारणका पथ परिष्कार करनेके हेतु ही यह प्रस्तावना लिखी गई है।

गीताका धर्म्म क्या है?—यह प्रश्न सुननेमे जितना सरल, वास्तवमे उतना ही बिकट है। गीताकथित धर्म्म क्या है, यह जाननेके पहले केवल धर्म्म क्या है, यह जाननेकी चेष्टा करनी चाहिये। धर्म्मकी व्याख्या भिन्न भिन्न महर्षियोंने भिन्न २ प्रकारसे की है। "नासौ मुनिर्यस्य मत न भिन्नम्।" इस विषयमें भी मतभेद है। पर लेखकके मतसे उपलब्ध समस्त व्याख्याओंमे व्यापकता और पूर्णताकी दृष्टिसे जगद्गुरु श्रीमच्छङ्कराचार्य्यकी यह व्याख्या सबसे श्रेष्ठ है —

"जगतः स्थितिकारणं प्राणिना ।
साक्षादभ्युदयनि.श्रेयसहेतुर्यः स धर्म्म ॥"

"जिससे संसारकार्य्य सुचारुरूपसे सम्पन्न हो और मनुष्यको उत्तम ऐहिक सुख प्राप्त होकर अन्तमे मोक्ष भी मिले, वही धर्म्म है।" धर्म्मकी यह व्यापक और यथार्थ व्याख्या कर आचार्य्य कहते हैं कि, मनुष्य मात्र इस धर्म्मके अधिकारी है। इसमे वर्णाश्रम भेद नही है और न उच्च नीचका ही भेद है। जो अपना प्रकृत हित चाहता हो, वह इस धर्म्मका आचरण कर सकता है—"ब्राह्मणाद्यैर्वर्णैर्भिराश्रमिभिश्च श्रेयोऽर्थिभिरनुष्ठीयमानो धर्म्मं तथा।" यही धर्म्म है, जिससे इह लोक दोनो सिद्ध होते है। उस परमपावन जगदाधार धर्म्मको जाननेका तथा तदनुसार आचरण करनेका अधिकार जगत्पिता परमात्माने मनुष्य-मात्रको दिया है। जगत्के हितार्थ इस धर्म्मका परिचय भगवान् श्री कृष्णचन्द्रने अर्जुनको दिया था और वही महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यासने सात सौ श्लोकोंमे प्रकट किया है, यही सप्तशती भगवद्गीता है।

गीता धर्म्मका सार समझनेके लिये यह जानना आवश्यक है कि, यह गीता कब और किस उद्देश्यसे प्रकट हुई थी और वह उद्देश्य सिद्ध हुआ वा नही। कुरुक्षेत्र नामक पवित्र युद्धभूमिमें दो विशाल सेनाए युद्धके लिये व्यूहबद्ध होकर खडी हैं। एकके सेनापति महापराक्रमी यज्ञजात धृष्टद्युम्न और दूसरीके महावीर आजन्म ब्रह्मचारी पितामह आचार्य्य भीष्म हैं। राज्यके लिये दो सगे भाइयोंके लडकाम युद्धहोने वाला है। धृतराष्ट्र और पाण्डु सौ भाई थे। धृतराष्ट्रके दुर्योधन दु शासनादि एक सौ पुत्र थे और पाडुके पाच—युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव। दुर्योधनने ईर्ष्या और द्वेषवश हो कपटद्यूतमे सरलचेता युधिष्ठिरको हरा उनका राज्य ले लिया और पाचों पाडवोंको तेरह वर्षके लिये वन भेज दिया। निश्चय हो चुका था कि, इस अवधिके बाद दुर्योधन पाडवोंको उनका राज्य दे देगा। अवधि समाप्त हो गयी, पर दुर्योधनने पाण्डवोंको राज्य देनेसे इनकार किया। युधिष्ठिरने स्वय श्रीकृष्णद्वारा दुर्योधनसे कहला भेजा कि हम पाच भाइयोंको केवल पांच गाव दो और अवशिष्ट राज्य तुम लो पर उसने

इससे भी इनकार किया। श्रीकृष्णके समझानेपर दुर्योधनने कहा कि पाच गाव तो जाने दो "सूच्यग्र नैव दास्यामि विनायुद्धेन केशव!"

अब युद्धके सिवा और दूसरा उपाय ही न रहा। शान्तिप्रिय राजा युधिष्ठिरने बहुत टालमटोल की, पर अन्तमे धर्म्मके लिये उन्हे युद्ध करना ही पडा। इस युद्धकी तैयारी ऐसी हुई जैसी पहले कभी नहीं हुई थी। भारतके समस्त राजाओंने किसी न किसी पक्षका साथ दिया। एक श्रीकृष्णने इस युद्धमे शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी। इसलिये उन्होने दुर्योधनको, उसकी इच्छानुसार, अपनी महाबल सेना दी और स्वय, अर्जुनके प्रार्थनानुसार, उसका सारथी होना स्वीकार किया। इस प्रकार आसेतु हिमाचल भारतवर्षके चुने हुए वीर युद्धोन्मत्त हो मरने मारनेके लिये कुरुक्षेत्रकी सुविशाल रणभूमिमे जमा हो गये। युद्धके प्रथम दिन प्रात काल दोनो सेनाए व्यूहबद्ध हो आमने-सामने खडी है। वीर लडनेके लिये उतावले हो रहे है। महाराज दुर्योधनने गुरु द्रोणाचार्य का दोनों पक्षोके नामकोका परिचय दे दिया है। युद्धके उत्साहजनक वाद्य बजने लगे हैं। केवल बाण चलनेकी ही देर है। ऐसे समय पाडवोके आराधन महावीर अर्जुनने अपने सारथी श्रीकृष्णसे कहा,—"हे कृष्ण मैं देखना चाहता हू कि इस महायुद्धमे मुझे किस किससे लडना पडेगा इसलिये मेरा रथ दोनो सेनाओके बीचमे खड़ा करो," कृष्णने ऐसा ही किया। अर्जुनने देखा। देखते हो वह हतोत्साह हो गया। उसने देखा कि मेरे गुरु, सम्बन्धी और इष्ट-मित्र लडनेको खडे हैं। इन्हे मारे बिना राज्य नही मिल सकता। धिक्कार है, ऐसे राज्यको। गुरुजनोंका बध और कुलका नाश करनेसे यदि त्रैलोक्यका भी राज्य मिले तो मैं नहीं चाहता। इससे भीख मागकर कालयापन करना भी अच्छा है। मैं युद्ध न करूगा! महावीर अर्जुन विह्वल हो गया। उसके हाथसे अग्निदत्त गाण्डीव धनुष गिर गया। वह अवश हो बैठ गया। उसका मुह सूखने लगा शरीर पसीने पसीने हो गय।

भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि, अप्रासगिक दयाके कारण अर्जुन धर्म्म-

भ्रष्ट हो गया है । इसलिये श्रीकृष्णने उसे सत्यधर्म्मका उपदेश दे उसका मोह दूर कर दिया , उसके हृदयका अज्ञान दूर कर उसे कर्म्मयोगका तत्त्व बताया । यही कर्म्मयोग गीताका सार है । पर कर्म्मयोग क्या है ? कई टीकाकारोंने कर्म्मसे यज्ञयागादि वैदिक कर्म्मोंको ग्रहण किया है । पर यह ठीक नही है । ऐसा होता, तो अर्जुन रणभूमि त्यागकर वनमे जा कोई यज्ञ करता । पर उसने ऐसा नही किया इसलिये यह स्पष्ट है कि कर्म्मका अर्थ केवल कर्म्मकाण्ड ही नही है । कर्म्मकाण्डका उसमें समावेश होता हे सही, पर कर्म्मयोग इससे अधिक व्यापक है । इस कर्म्मयोगका सम्बन्ध मनुष्यके समस्त क्रियाओसे है—उसके प्रत्येक कार्य्यमे है आजकलके पाश्चात्यविद्या पारगत पुरुष श्रीकृष्णके कर्म्मको पाश्चात्योकी "डयूटी" (Duty) समझते है । वह भी ठीक नही है । "ड्यूटी" कर्म्मयोगका अग हो सकता है, पर समस्त कर्म्मयोग "ड्यूटी" नही है । पाश्चात्य मतके अनुसार "ड्यूटी" वह कार्य्य है जिसे मनुष्य अच्छा समझे । आप्त इष्ट और गुरुजनोको मारनेकी अपेक्षा निजका स्वार्थत्याग-कर युद्धसे विरत होना, अर्जुनके विचारसे उसका कर्त्तव्य (duty) था । स्वार्थत्याग तथा पाश्चात्य "morality" की दृष्टिसे अर्जुनका यह भाव प्रशसनीय भी है । पर भगवान् इसे मोह और क्लैब्य समझते हैं । इसलिये कर्म्मयोग "ड्यूटी" नहीं है ।

श्रीकृष्णका कर्म्मयोग कर्म्मकाण्डियोंके कर्म्मकी अपेक्षा और पाश्चात्योंके "डयूटी" की अपेक्षा अधिकतर उदात्त तथा व्यापक है । यज्ञयागादि सकाम है । और "डयूटी" का निर्द्धार करना अल्पमति तथा भ्रमशील मनुष्यपर निर्भर है । कर्म्मयोगकी यह बात नहीं है । कर्म्मयोगी भ्रान्त हो ही नहीं सकता । क्योंकि उसका मूल आत्मसमर्पण है । कर्म्मयोगी वही है, जिसने अपनी समस्त इच्छाओंका और वासनाओंका त्याग कर दिया है । वह भला भी नहीं चाहता और बुरा भी नही चाहता । वह सुखसे भी अलिप्त है और दुःखसे भी अलिप्त है । वह भगवान्‌को आत्मसमर्पण करता है । अपने चित्तको ईशमय करता है ।

वह अपनेको भगवानके हाथका यन्त्र बनाता है। उसकी दृढ़ धारणा है कि भगवान् मुझसे अधिक जानते है। भगवान् स्वय कहते है—"मच्चित्त सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।" "मुझे अपना चित्त दे डालो, मेरी कृपासे सब कष्टोंसे तुम्हारा उद्धार होगा।" यही आत्मसमर्पण है और यही कर्म्मयोगका मूल है। यह आत्मसमर्पण पूर्ण होना चाहिये। शेष कुछ भी न रहे। लोकसेवा, परोपकार आदि बुद्धिसे भी कार्य्य करना कर्म्मयोगकी दृष्टिसे त्याज्य है। क्योंकि यह राजसिक वासना है और वासना सफल न होनेसे दुःख होता ही है। फिर इस दृष्टिसे कार्य्य करनेवाला निर्द्वन्द्व कैसे कहा जा सकता है? गीताका सार यह श्लोक है —

" सर्वधर्म्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि, माशुचः॥"

(१८-६६)

"मैं तुम्हे सब पापोंसे छुडाऊंगा।"—"उससे छूटनेकी वासनासे तुम कार्य्य मत करो। तुम सब धर्माका त्यागकर मेरी शरण आओ" "महात्मा हो जाओ। जो कुछ करना है, मैं करूंगा।" दयामय भगवान सबका मंगल ही करेंगे।

बा० वि० पराड़कर।

निवेदन

प्रिय पाठक वृन्द,

"सस्ती ग्रथमाला" की आठवी पुस्तक "श्रीमद्भगवद्गीता भाषा टीका सहित" आपके सामने उपस्थित करते हमें बडा हर्ष और आनन्द होता है। हमारी इस "सस्ती ग्रन्थ माला" का जैसा आदर पाठकों और समालोचकोने करके हमारे उत्साह-को बढाया है तथा उसीका अनुकरण करते हुए आज कई ग्रन्थ-मालाये राष्ट्र भाषाकी श्री वृद्धि करनेके लिये निकल रही है, देखकर बडा सन्तोष होता है। और मातृभाषाकी उन्नतिके लिये इस तरहकी मालाओका निकलना बहुत ही आदरणीय है।

"श्रीमद्भगवद्गीता" की अनेक टीकाये निकल चुकी है। पर ऐसी सुबोध और सुपाठ्य तथा सस्ते एडीशनकी टीकाकी बडी आवश्यकता थी जिससे सर्व साधारणको लाभ हो और गीताके ज्ञानका प्रचार हो।

इस गीताका पहला एडीशन स्थानीय साहित्य सम्बन्धिनी समितिसे १०-१२ वर्ष पहले निकल चुका था, जिसकी १०००० प्रतिया १५-२० दिनोंमें खप गयी थी, परन्तु माग अभीतक बनी रही। पर उस सस्थाका काम बन्द हो जानेसे फिर पुस्तकका एडीशन न हो सका। इससे हम लोगोंने यह उचित समझा कि इसका दूसरा एडीशन कराके आपके हाथोंमें रखा जाय। इसी आशयसे यह "गीता" आपके सामने रखी जाती है।

निवेदन—

प्रकाशक

* श्रीगणेशाय नम: *

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथम अध्याय
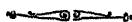
धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामका पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

हे संजय, पुण्यभूमि कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये एकत्र होकर मेरे और (मेरे भाई) पाडुके पुत्रोंने क्या किया ?

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

व्यूह बनाकर खडी पाडवोंकी सेना देखकर राजा दुर्योधन आचार्य्य द्रोणके पास जाकर बोले —

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महती चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

हे आचार्य्य, पाडवोंकी यह बडी भारी सेना तो देखिये ! इसका यह व्यूह राजा द्रुपदके पुत्र और आपके बुद्धिमान् शिष्य धृष्टद्युम्नने रचा है ।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथ ॥४॥

इसमें भीम और अर्जुनके जैसे बड़े बड़े धनुर्धारी वीर सात्यकि, विराट्, महारथी द्रुपद,

धृष्टकेतुश्चेकितान काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गव ॥५॥

धृष्टकेतु, चेकितान, बलवान् काशिराज, पुरुजित, कुन्तिभोज नरवर शैब्य,

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथा ॥६॥

पराक्रमी युधामन्यु, महाबली उत्तमौजा, सुभद्रानन्दन अभिमन्यु, और द्रौपदीके पाचो पुत्र हैं । ये सबके सब महारथी हैं ।

अस्माक तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

हे विप्रवर, आपको केवल स्मरण दिलानेके लिये अब मैं अपने पक्षके कुछ चुने हुए सेनापतियोंके नाम सुनाता हू, आप ध्यान देकर सुनें—

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च सामितिञ्जय ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

आप, भीष्म, कर्ण, सदाविजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा,

अन्ये च बहव शूरा मदर्थे त्यक्तजीविता ।
नानाशस्त्रप्रहरणा सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

तथा और भी बहुतसे वीर (हमारी सेनामें) हैं । ये सब

युद्धविद्यामें प्रवीण, भांति भांतिके शस्त्र चलानेमें निपुण और मेरे लिये प्राणतक देनेको प्रस्तुत हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

कहा तो हमारी यह अनगिनत सेना जिसके रक्षक भीष्म हैं और कहा उनकी वह छोटी सी सेना जिसका रक्षक भीम है!

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

(कुछ परवा नहीं!) आप लोग सब अपने अपने मोर्चों पर खड़े हो जाय और सेनापति भीष्मकी रक्षा करें।

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

(इतनेमें) दुर्योधनको प्रसन्न करते हुए वृद्ध कौरव पितामह भीष्मने सिंहकी जैसी गर्जनाकर बड़े जोरसे अपना शंख बजाया ॥ १२ ॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

तब चारों ओर एक साथ शंख, नगारे, ढोल, सहनाई, गोमुख आदि युद्धके बाजे बजने लगे। वह नाद बड़ा ही भयङ्कर हुआ।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

सफेद घोड़ोंके बहुत बड़े रथपर बैठे हुए कृष्ण और अर्जुनने भी उसी समय अपने अपने दिव्य शंख बजाये।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य, अर्जुनने देवदत्त और भीषण कर्म करनेवाले भीमने अपना पौंड्र नामक बहुत बडा शङ्ख बजाया।

अनन्तविजय राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिर।
नकुल सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठरने अनन्तविजय, नकुलने सुघोष, सहदेवने मणिपुष्पक,

काश्यश्च परमेष्वास शिखण्डी च महारथ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजित ॥ १७ ॥

महाधनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट्, अजेय सात्यकि,

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वश पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

द्रुपद, द्रौपदीके पुत्रों और सुभद्राके पुत्र महाबाहु अभिमन्युने हे राजन्, अपने अपने शङ्ख बजाये।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

उस भयङ्कर शब्दसे पृथ्वी और आकाश गूंज उठे तथा कौरवोंके कलेजे कांपने लगे।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वज।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डव ॥ २० ॥

इसके बाद भी कौरवोंको युद्धके लिये प्रस्तुत और शस्त्र चलानेका समय आया देखकर कपिध्वज अर्जुनने अपना धनुष उठा लिया।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

और, हे राजन्, श्रीकृष्णसे कहा—हे अच्युत, मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीच खड़ा करो

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

जिससे मैं एक बार भलीभांति देख लूं कि लड़नेके लिये यहां कौन २ आये हैं और मुझे किनसे जूझना होगा ।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

मैं एक बार उन्हें देखना चाहता हूं,जो धृतराष्ट्रके पुत्र दुष्टबुद्धि दुर्योधनकी प्रसन्नताके लिये मरने मारनेपर उतारू हो गये हैं।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२४-२५॥

हे भारत, अर्जुनकी बात सुनकर श्रीकृष्णने वह उत्तम रथ दोनों सेनाओंके बीच, भीष्म, द्रोण तथा और और राजाओंके सामने खड़ा करके कहा—"पार्थ, ये देखो कौरव हैं !"

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन् पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२६-२७॥

उन दोनों सेनाओंमें अर्जुनको अपने ही चाचा, दादा, गुरु, मामा, भाई, बेटे, पोते, साथी, ससुर और मित्र दिखायी दिये। इस प्रकार अपने बन्धु बान्धवोंको सामने खड़े देखकर अर्जुनने

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥

अत्यन्त दयार्द्र होकर बड़े ही दुःखसे कहा—हे कृष्ण, इन सब अपने ही लोगोंको युद्धके लिये उपस्थित देखकर

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

मेरे तो हाथ पैर ढीले हो रहे हैं, मुंह सूखा जा रहा है, शरीर कांप रहा है, रोमाञ्च हो रहा है।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

हाथसे गाण्डीव धनुष गिरा जा रहा है और सारा शरीर जलने लगा है। मुझमें अब खड़े रहनेका भी सामर्थ्य नहीं है, मेरा जी घबरा रहा है।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

हे केशव, लक्षण बड़े ही बुरे दिखायी दे रहे हैं। मैं नहीं समझता कि युद्धमें स्वजनोंको मारनेसे हमलोगोंको भलाई होगी।

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

हे कृष्ण! मैं जय नहीं चाहता, राज्य नहीं चाहता और सुख भी नहीं चाहता। हे गोविन्द, राज्य लेकर हम क्या करेंगे? ऐसे सुखसे ही क्या होगा? और तो क्या, उस दशामें जीना ही किस कामका है?

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगा सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

मनुष्य जिनके लिये राज्य, भोग और सुख चाहता है, मेरे सामने तो वे ही प्राण और धनकी आशा त्यागकर लड़नेके लिये खड़े हैं।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाःसंबधिनस्तथा ॥३४॥

गुरु,चाचा, बेटे भतीजे, दादा, मामा, ससुर, पोते और मित्र,

एतान्न हन्तुमिच्छामिघ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

ये मुझे मार भी डालें तो भी, हे मधुसूदन, पृथ्वी तो पृथ्वी, तीनों लोकोंके—स्वर्ग-मर्त्य पातालके राज्यके लिये भी मैं इन्हें न मारूंगा।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नःका प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिन ॥३६॥

हे कृष्ण! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारनेसे हमारी कौनसी भलाई होगी? सच है कि, ये हमारे आततायी* हैं और आततायियोंको मारनेकी अनुमति भी नीति-शास्त्रमें दी गयी है, तो भी इनको मारनेमें पाप ही है।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिन स्याम माधव ॥३७॥

---

* आततायी छः प्रकारके होते हैं, (१) आग लगानेवाला, (२) विष देनेवाला, (३) शस्त्र लेकर मारनेको आनेवाला, (४) धन हरण करनेवाला, (५) भूमि हरण करनेवाला, और (६) स्त्री हरण करनेवाला। नीति है कि, आततायीको देखते ही मार डालना चाहिये।

क्योंकि धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे नातेदार हैं, इसलिये इनको मारना अनुचित है। हे माधव ! भला अपने ही सम्बन्धियोंको मारनेसे सुख कैसे मिलेगा ?

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतस ।
कुलक्षयकृतं दोष मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

यद्यपि लोभसे दुर्योधनादिकी बुद्धि मारी गयी है, इससे वे नही जानते कि कुलका नाश होनेसे बडे बडे अनर्थ होते हैं तथा मित्रका द्रोह करनेसे पाप लगता है,

कथं न ज्ञेयमस्माभि पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोष प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

पर, कुलनाशके दोष भलीभांति जानकर भी, क्या हमें यह न सोचना चाहिये कि इस पापसे दूर रहना ही कर्त्तव्य है ?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्मा सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुलका क्षय होनेसे प्राचीन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्मनाशसे कुलमें पाप बढता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रिय ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्कर ॥४१॥

हे कृष्ण ! कुलका धर्म नष्ट होनसे स्त्रिया बिगडती हैं और स्त्रियोंके बिगडनेसे सन्तान वर्णसकर (दोगली) होती है।

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

जिस कुलमे वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं, वह कुल और उस कुलका नाश करनेवाले, दोनों ही नरकमें जाते हैं, केवल इतना ही नही, श्राद्ध तर्पणादि बन्द हो जानेके कारण उनके पितर भी स्वर्गसे गिरते हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।

उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

कुलनाश करनेवालोंके, इन वर्णसङ्कर उत्पन्न करनेवाले दोषोंसे प्राचीन जातिधर्मों और कुलधर्मोंका भी नाश होता है।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।

नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

हे जनार्दन, बराबर सुनते आये हैं कि, जिनका कुलधर्म्म नष्ट हो गया है उनको अवश्य ही नरकमें जाना पडता है ।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।

यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

हाय ! राज्य सुखके लोभसे हमलोग अपने स्वजनोंको मारनेका महत्पाप करनेके लिये भी तैयार हो गये !

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।

धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

यदि मैं हाथमें शस्त्र न लूं और आक्रमण करनेवालोंको न रोकूं तथा शस्त्रधारी शत्रु आकर मुझे मार डालें, तो उससे मेरा अधिक कल्याण होगा ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।

विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

यह कहकर अर्जुनने हाथसे धनुष बाण फेंक दिया और अत्यन्त दुःखित होकर रथपर बैठ गया ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम

प्रथमोऽध्यायः ।

अथ द्वितीय अध्याय

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

जो दयासे कातर हो रहा है अथवा जो मोहमें फंस गया है, जिसकी आखोंमें आसू भर आये हैं, और जो अत्यन्त दुखित हो रहा है, ऐसे अर्जुनसे मधुसूदनने कहा—

श्रीकृष्ण उवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

हे अर्जुन, ऐसी विपद्के समय तुम्हें यह मोह कहांसे हुआ? इस प्रकारका मोह तो अनार्यों को अर्थात् हीन पुरुषोंको ही होता है, यह स्वर्गप्राप्तिमे बाधा डालता है और कीर्त्तिका नाश करता है।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥३॥

पार्थ, ऐसे कायर मत बनो यह तुम्हें शोभा नहीं देता। हे परन्तप, मनकी यह क्षुद्र दुर्बलता दूर करो और वीरके समान खड़े हो जाओ।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

हे अरिसूदन, जिनकी पूजा करनी चाहिये ऐसे भीष्म, द्रोण आदि गुरुजनोंसे मैं कैसे लड़ूं?—इनपर मैं कैसे वाण चलाऊं?

गुरून हत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तु भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

ऐसे उदार गुरुजनोंको मारनेकी अपेक्षा भीख मागकर रहना भी अच्छा है। यद्यपि दुर्योधनका अन्न खानेके कारण इनको लडनेके लिये आना पडा है, तो भी ये मेरे गुरु ही हैं, इनको मारनेसे हमे इसी लोकमें (परलोककी बात जाने दीजिये) इनके रक्तमें सने सुख भोगने होंगे।

नचैतद्विद्म कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयु ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम तेऽस्थिता प्रमुखे धार्तराष्ट्रा ॥६

वे हमें हरावें तो अच्छा होगा या हम इन्हें हरावें तो अच्छा होगा इसका भी निर्णय करनेमें हम असमर्थ हैं। (पर यह स्पष्ट देख रहे हैं कि) जिनको मारनेसे स्वयम् जीवित रहनेकी इच्छा ही नहीं हो सकती, वे ही धृतराष्ट्रपुत्र हमारे सामने लडनेको खडे है।

कार्पण्य दोषोपहतस्वभाव पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेता ।
यच्छ्रेय' स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्

मोह और स्वजनहत्यासे होनेवाले दोषके विचारसे मैं बिलकुल घबरा गया हू—मेरी बुद्धि ठिकाने नही है और धर्म क्या है, यह मेरी समझमें ही नही आता है। इसीसे तुमसे पूछता हू, बताओ मेरे लिये हितकर क्या है? मैं तुम्हारा शिष्य हू, तुम्हारी शरण आया हूं। मुझे सत्य मार्ग दिखाओ।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्य सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

बहुत बडा, सम्पत्तिशाली और निष्कण्टक पृथिवीका राज्य और स्वर्गका राज्य भी मिले, तोभी मेरी इन्द्रियोंको अत्यन्त कष्ट देनेवाले इस शोकको दूर करनेका कोई उपाय मुझे दिखायी नहीं

देता है। (अर्थात् युद्धसे मुझे त्रैलोक्यका राज्य भी सम्भवतः मिल सकता है, पर इस दुःखदायी शोकके दूर करनेका उपाय क्या है ?)

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेश गुडाकेशः परन्तप।

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

हे राजन्, अर्जुनने कृष्णसे इतनी बातें कहीं। अन्तमें यह कहकर कि, "हे कृष्ण, मैं तो युद्ध न करूंगा" मौन धारण किया।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।

सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

हे भारत, दोनों सेनाओंके बीच अर्जुनको इस प्रकार शोक करते देख, श्रीकृष्णने उससे मुस्कराकर कहा:—

श्रीकृष्ण उवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

(हे पार्थ,) तुम मुंहसे तो ज्ञानकी बड़ी २ बातें कह रहे हो और जिसके लिये शोक करना अनुचित है उसके लिये शोक भी करते हो! पर जो सच्चे ज्ञानी हैं, वे न मरेका शोक करते हैं, न जीतेका ही।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

यह तो हो ही नहीं सकता कि, मैं इसके पहले कभी न था, या तू कभी न था, या ये राजे कभी न थे, अथवा इसके बाद हम कोई न होंगे।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

देहीको अर्थात् आत्माको जैसे इस देहमें लडकपन, ज्वानी और बुढापा होता है, वैसा ही दूसरी देह भी प्राप्त होती है, यह पण्डितोंका निश्चित मत है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

पर, हे कुन्तीपुत्र, शीत, उष्ण और सुख, दुःख देनेवाले पदार्थों का परिणाम केवल इन्द्रियोंपर होता है (आत्मापर नहीं होता), ये जैसे उत्पन्न होते हैं वैसे ही नष्ट भी होते हैं, ये अनित्य हैं अर्थात् कभी न कभी इनका नाश होता ही है। इसलिये, हे भारत, इनको धैर्यके साथ सहन करो।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

क्योंकि, हे पुरुषश्रेष्ठ, जिस ज्ञानी पुरुषको ये सता नहीं सकते, जिसके लिये सुख और दुःख दोनों ही समान हैं, वही अमर होने योग्य है (अर्थात् मुक्ति उसीको मिलती है)।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

जिसका अस्तित्व ही नहीं है अर्थात् जो है ही नहीं, उसका होना असम्भव है, और जो वस्तुतः है उसका नाश नहीं हो सकता। तत्त्व जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंने इन दोनोंके सम्बन्धमें यही निश्चय किया है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

यह भली भांति जान लो कि, जिसके बलसे यह विश्व चल रहा है उसका कभी नाश नहीं हो सकता, वह अव्यय है चिरकालतक रहेगा, किसीके किये वह नष्ट न होगा।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

यह देह नाशवन्त है पर इसमे रहनेवाला देही (आत्मा) नित्य, अमर और अप्रमेय (जाना नही जा सकता ऐसा) है, इसलिये, हे अर्जुन, तुम युद्ध करो।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

जो आत्मारामको मारनेवाला समझता है और जो इसे मरा समझता है, वे दोनों ही मूर्ख हैं, यह मारता है न मरता है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०

आत्मा न कभी जन्म लेती है, न मरती है, यह न कभी जनमी थी और न कभी मरेगी, यह अजन्मा, चिरस्थायी, कभी न घटने बढनेवाली और सनातन है। शरीरके मरनेपर भी यह नहीं मरती।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

जो यह जानता है कि आत्मा कभी नाश न पानेवाली, सदा रहनेवाली, कभी न बदलनेवाली है, हे पार्थ, भला कहो तो, वह मनुष्य कैसे किसीको स्वयं मार सकता है वा दूसरेसे उसका नाश करा सकता है ?

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र फेंककर नये ग्रहण करता है, उसी प्रकार आत्मा भी पुरानी देह त्यागकर दूसरी नयी देह ग्रहण करती है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

आत्माको न शस्त्र काट सकते हैं, न आग जला सकती है, न पानी भिजा या गला सकता है, और न हवा सुखा सकती है ।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

यह न कट सकती है, न जल सकती है, न भीज या गल सकती है और न सूख सकती है । यह अविनाशी, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन है ।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

यह इन्द्रियोंसे जानी नहीं जा सकती, यह कल्पनासे भी परे है, और इसमें फेर बदल नहीं हो सकता, इसलिये तुम्हे शोक न करना चाहिये ।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

और यदि कहो कि, आत्मा सदा ही जनमती और मरती रहती है, तोभी हे वीर, तुम्हे इसके लिये शोक न करना चाहिये ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

क्योंकि, जो जनमा है वह अवश्य मरेगा और जो मरा है वह अवश्य जनमेगा; अतएव जो बात अनिवार्य है उसके लिये तुमको शोक न करना चाहिये ।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्रका परिदेवना ॥२८॥

जन्म लेनेके पहले क्या था, कोई नहीं जानता, जन्मके बाद कुछ काल उसका परिचय होता है सही, पर मरनेके बाद फिर क्या होगा, यह भी कोई नहीं जानता, इस दशामें शोक ही किस बातका करते हो ?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैवचान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्य शृणोति श्रुत्वाप्येन वेद न चैव कश्चित् ॥

(यह आत्मज्ञानका विषय इतना कठिन है कि,) कोई तो (हतबुद्ध हो) टकटकी लगाये देखते ही रह जाता है, कोई मुहसे कहता है—'भाई, बड़ा ही आश्चर्य है,' कोई यह विषय बड़े आश्चर्यसे सुनता है, पर सुनकर भी इसे कोई नहीं जानता।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

हे भारत, यह देही (आत्मा) चाहे जिस देहमें हो, इसको कोई कभी मार नहीं सकता । इसलिये तुमको किसीके लिये शोक न करना चाहिये ।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

(दूसरी बात यह कि) तुम्हें अपने क्षात्रधर्मके विचारसे भी यह भय त्याग देना चाहिये, क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्म-युद्धसे अधिक हितकारक और कुछ भी नहीं है ।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

हे अर्जुन, यह युद्ध क्या है मानो आप ही आप खुला हुआ स्वर्गका द्वार है, ऐसा मौका जिस क्षत्रियको मिलता है वही भाग्यशाली है।*

("आप ही आप खुला हुआ स्वर्गद्वाररूप युद्ध"—इसका भावार्थ यह है कि, तुमको अपने दोष वा अत्याचारके कारण लडना नहीं पड रहा है पर, तुम्हारी इच्छा न रहते हुए भी, दूसरेके अत्याचारसे आत्मरक्षा करनेके लिये तुम लडनेको बाध्य हुए हो, इस दशामें, अर्थात् आत्मरक्षाके लिये-परपीडनके लिये नहीं, युद्ध करना क्षत्रियका धर्म है, इससे उसको स्वर्गकी प्राप्ति होती है।)

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

यदि तुम धर्म्मके अनुकूल यह युद्ध न करोगे तो तुम्हारा धर्म्म और यश नष्ट होगा और तुम्हे पाप लगेगा।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

लोग सब समय तुम्हारी निन्दा करेंगे, और श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये ऐसा अपमान मृत्युसे भी बढकर दुखदायी होता है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

ये वीर महारथी कहेंगे कि, "अर्जुन डरकर लडाईसे भाग गया।" और आजतक जो लोग तुम्हारा सम्मान करते थे वे ही बादमें निन्दा करने लगेंगे।

---

* मिसेज एनी बीसैण्टने इसका अंगरेजीमें इस प्रकार उल्था किया है —
"Happy the Kshatriyas, O Partha, who obtain such a fight offered unsought as an opendoor to heaven"

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिता ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

और तुम्हारे बलकी निन्दा करनेवाले तुम्हारे शत्रु ऐसी ऐसी बातें कहेंगे जो न कहनी चाहिये, भला कहो तो, इससे बढ़कर दुःख ही क्या है ?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय ॥३७॥

यदि तुम युद्धमें मारे जाओ तो स्वर्ग पाओगे और जीतो तो पृथ्वीके सुख पाओगे; इसलिये, हे अर्जुन, युद्ध करनेका निश्चय करके उठ खडे हो जाओ ।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

(इतनेपर भी यदि तुमको पाप लगनेका भय हो तो) सुख दुःख, लाभ-हानि, जय पराजय, इनको एकसा मानकर युद्ध करो, तब पाप नहीं लगेगा ।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

हे पार्थ, अबतक मैंने तुमको आत्मतत्त्व समझाया । इसका ज्ञान होनेसे मनुष्य शोक-मोहादि विकारोंसे मुक्त हो जाता है । (पर यह विषय अति कठिन है, इसलिये अब तुमको) कर्मयोगका तत्त्व समझाता हूं, मन लगाकर सुनो । यदि इसका अनुसरण करोगे, तो कर्मका बुरा फल तुमको कभी न भोगना पड़ेगा ।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

इस कर्म्मयोगकी विशेषता यह है कि, इसके अनुसार (अर्थात् फल पानेकी इच्छा किये विना) केवल कर्त्तव्य ज्ञानसे कर्म्म करोगे, तो वह अधूरा रहनेपर भी बिलकुल नष्ट न होगा-जितना करोगे उतना ही सिद्ध होगा, और भूल-चूक हो जानेपर भी परिणाम बुरा न होगा। कामना त्यागकर कर्म्म करनेसे मनुष्य बडी बड़ी विपदाओंसे बच जाता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥४१॥

हे कुरुकुलको आनन्द देनेवाले अर्जुन, इस कर्म्मयोगका मूल तत्त्व "व्यवसायात्मिका बुद्धि" अर्थात् दृढ निश्चय है,—'यह मेरा कर्त्तव्य है' इतना ही जानकर फलाफलकी परवा किये विना दृढताके साथ कर्म्म करते रहना चाहिये। पर जिसमें यह दृढ़ निश्चय नहीं है, वह कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि उसके चित्तमें अनन्त कल्पनाएं उठती रहती हैं और उन कल्पनाओंकी भी अनगिनत शाखाए होती हैं, उस दशामें मनुष्य सन्देहमें ही रह जाता है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।

वेदवादरता पार्थ नान्यदस्तीति वादिन॥ ४२॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ ४४॥

हे पार्थ, श्रुतिमधुर, जन्म कर्म्मरूप फल देनेवाले, भोग और ऐश्वर्य्य प्राप्तिके साधन कर्म्म बतानेवाले ये वाक्य विचारहीन पुरुष कहा करते हैं। वेदोक्त काम्यकर्म्मको ही जो एकमात्र

धर्म्म समझते हैं ("वेदवादरता"), जो कहते हैं—"इनके सिवा और कुछ है ही नहीं," उनकी कामना नष्ट नहीं हुई है, वे स्वर्ग चाहते है, वे भोग तथा ऐश्वर्य्य चाहते हैं और इन्हीमें उनका जी लगता है। ऐसे पुरुषोंकी बुद्धि इतनी निश्चयात्मक नहीं होती कि वे ईश्वरमें चित्तकी एकाग्रता कर सकें।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

हे अर्जुन, त्रिगुणोंमे अर्थात् सत्त्व रज तममे बधे हुए साधारण मनुष्योंके लिये ही वेदोंमे काम्यकर्म्म कहे गये हैं, तुम इन तीनो गुणोंके परे हो जाओ, सुखदु:ख, शीतोष्ण, रागद्वेष आदि द्वन्द्वोका त्याग करो, नित्यसत्त्वका आश्रय ग्रहण करो, न सांसारिक वस्तु प्राप्त करनेकी इच्छा करो, न प्राप्त वस्तुकी रक्षा करनेका ही प्रयत्न करो, और सदा सावधान रहो।

यावानर्थ उदपाने सर्वत सम्प्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत ॥४६॥

जैसे छोटेसे कूपसे होनेवाला काम, पानीसे लबालब भरे हुए तालाबसे सहज ही हो जाता है, उसी प्रकार वेदोंमे कथित काम्यकर्म्मोंका फल ब्रह्मज्ञानीको अनायास ही प्राप्त होता है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

कर्म्म करो, कर्म्मफलकी आशा मत करो। कर्म्मफलको ही कर्म्म करनेका कारण मत बनाओ और निकम्मे भी मत रहो।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा समत्वं योगउच्यते ॥४८॥

हे धनञ्जय, तुम योगस्थ होकर कर्म करो, फलकी कभी आशा मत करो, सफलता और असफलता दोनोंको समान मानकर ही कर्म करो, क्योंकि इसी समज्ञानको 'योग' कहते हैं। (यहां 'योग' शब्द पतञ्जलिके 'चित्तवृत्तिनिरोध' अर्थमें प्रयुक्त नहीं हुआ है।)

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

हे धनञ्जय, बुद्धियोगको अर्थात् समत्वबुद्धिकी अपेक्षा काम्यकर्म अत्यन्त हीन है, इसलिये तुम बुद्धियोगका आश्रय ग्रहण करो। (सफलता असफलताको समान समझते हुए केवल कर्त्तव्य समझकर कर्म करो) फलकी इच्छासे कर्म करनेवाले पुरुष निकृष्ट होते हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

(उल्लिखित) बुद्धियोग जिसे सिद्ध हुआ है वह न स्वर्ग पानेके लिये कोई कर्म करता है, न नरकमें जानेके लिये। अतः तुम योगका अनुष्ठान करो, कर्ममें कुशलता ही योग है (अर्थात् कर्त्तव्य-कर्म यथाविधि करना ही योग कहलाता है)।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१॥

बुद्धियोगावलम्बी ज्ञानी पुरुष कर्मजनित फलका त्यागकर जन्म-बन्धनसे मुक्त हो सब दुःखोंसे रहित परमपद पाते हैं।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

जब तुम्हारी बुद्धि मोहवनके बाहर निकल जायगी तब उन सब बातोंसे तुम्हारा मन विरक्त हो जायगा जो आजतक तुमने सुनी हैं या आगे सुनोगे।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

कर्म्मफल बतानेवाले वेदमन्त्रोंको सुनकर तुम्हारी बुद्धि विक्षिप्त हो गयी है, वह जब समाधिस्थ होकर अचला होगी, तभी तुमको योगकी प्राप्ति होगी।

अर्जुन उवाच

स्थितिप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

हे केशव, जो समाधिस्थ होकर स्थिरप्रज्ञ हुए हैं, उनका लक्षण क्या है? स्थिरप्रज्ञ व्यक्ति क्या कहते हैं, कैसे रहते हैं और कैसे चलते हैं? (उनकी रहन-सहन कैसी होती है?)

श्रीकृष्ण उवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

हे पार्थ, जो समस्त मनोरथोंका त्यागकर अपनेमें ही रम जाता है—आत्माराम हो जाता है, उसे "स्थितप्रज्ञ" (दृढ बुद्धि-वाला) कहते हैं।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

जो न दुःखसे दुखी होता है, न सुख चाहता है, जिसे न प्रेम है, न राग है, न द्वेष है, उसीको "स्थितप्रज्ञ" मुनि कहते हैं।

य सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

जिसे किसीसे प्रेम नहीं है, जो न शुभसे प्रसन्न होता है, न अशुभसे दुखी, वही स्थितप्रज्ञ है ।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

कछुआ जैसे सब पदार्थोंसे अपने अङ्गोंको हटा लेता है, वैसे ही जो इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको हटा लेता है, उसकी बुद्धि दृढ हुई है ।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

जो विषयोंका त्याग करता है उससे विषय तो दूर रहते हैं, पर विषयभोगकी वासना बनी ही रहती है, केवल ब्रह्म-साक्षात्कारसे ही वह नष्ट होती है ।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

हे कौन्तेय, विवेकी पुरुषके (इन्द्रियदमनका) प्रयत्न करते रहनेपर भी चञ्चल करनेवाली इन्द्रियां बलपूर्वक उसका चित्त हरण करती हैं ।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

उन सब इन्द्रियोंका संयमकर और योगयुक्त होकर जो मुझमें अपना चित्त लगा देता है, उसीकी इन्द्रियां वश हुई हैं, वही स्थितप्रज्ञ है ।

ध्यायतो विषयान्पुंस सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

विषयभोगका विचार करनेसे उसमें आसक्ति होती है; आसक्तिसे पानेकी इच्छा उत्पन्न होती है और (न मिलनेपर) इच्छासे क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रम।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

क्रोधसे अविचार होता है, अविचारसे भ्रम होता है, भ्रमसे बुद्धिनाश होता है और बुद्धिनाशसे सर्वनाश होता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

अपने वशमें की हुई, और राग तथा द्वेष दोनोंसे ही छुटकारा पायी हुई इन्द्रियों द्वारा विषयभोग करता हुआ मनोजयी पुरुष ही शान्ति लाभ करता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

शान्तिसे उसके सब दुःखोंका नाश होता है। प्रसन्नचित्त पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही निश्चला होती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयत शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

जिसको योग (समत्वज्ञान) प्राप्त नही हुआ है उसकी बुद्धि स्थित नही हो सकती। वह परमात्माका ध्यान नहीं कर सकता, जो परमात्मामें चित्त नही लगा सकता उसको शान्ति नही मिलती, शान्तिके बिना सुख नहीं होता।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

वायु जैसे नावको जलमें बहा ले जाता है, वैसे ही इन्द्रियां उस मनुष्यकी बुद्धि हरण करती हैं जिसका मन विषयासक्त इन्द्रियोंका अनुसरण करता है ।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

इसलिये, हे महाबाहो, जिसकी इन्द्रियां विषयोंसे सर्वथा विमुख हो गयी हैं, वही स्थिरप्रज्ञ है ।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

सब जीव जिसे रात समझते हैं, उसी समय संयमी पुरुष जागता रहता है, और जिस समय साधारण जीव जागते हैं, वही ज्ञाननेत्र मुनिको रात है ।

(अर्थात् जो ब्रह्मनिष्ठा साधारण जीवोंके लिये रातसी है, उसीमें जितेन्द्रिय योगी जागते हैं, और जिस विषयवासनारूप दिनमें समस्त प्राणी जागते हैं, आत्मतत्त्वदर्शी योगीके लिये वही रात है ।—साधारण प्राणियोंके लिये ब्रह्मनिष्ठा अन्धकारसी है पर जितेन्द्रिय योगियोंके लिये वही प्रकाश है, विषयनिष्ठा सब प्राणियोंके लिये प्रकाश है, पर तत्त्वदर्शी योगियोंके लिये वही अन्धकार है ।)

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी

जलसे भरे हुए प्रशान्त समुद्रमे जैसे (बिना बुलाये) सब नदियाँ प्रवेश करती है, उसी प्रकार जिसके पास (बिना चाहे)

सब भोग जाते हैं, उसीको शान्ति मिलती है ; भोगकी इच्छा करनेवालोंको शान्ति नही मिलती ।

विहाय कामन्य सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

जो पुरुष सब कामनाओंका त्यागकर इच्छारहित हो जाता है, जिसमे 'मैं' और 'मेरा' भाव नही रहता, उसीको शान्ति मिलती है ।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

हे पार्थ, यही ब्रह्मनिष्ठा है । इसे पाकर किसीको फिर मोह नहीं होता । अन्तकालमें भी यदि इसकी प्राप्ति हो, तो ब्रह्मनिर्वाण मोक्ष प्राप्त होता है ।

(इन्द्रियोका सयम और परमात्मामे चित्तार्पणकर निष्काम कर्म करना ही ब्रह्मनिष्ठा है । यही सनातनधर्मका सार है।)

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे साङ्ख्ययोगो
नाम द्वितीयोऽध्याय ॥
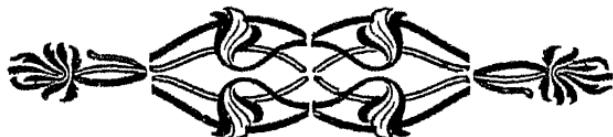
अथ तृतीय अध्याय

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

हे जनार्दन, यदि तुम्हारे मतसे कर्मकी अपेक्षा बुद्धि (ज्ञान) श्रेष्ठ है, तो हे केशव, मुझे घोर कर्ममे क्यो प्रवृत्त करते हो ?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

सन्देहजनक बातें कहकर मुझे और भी भ्रममें डाल रहे हो । इसलिये एक ऐसी निष्ठा बताओ जिससे मेरा कल्याण हो ।

श्रीकृष्ण उवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

हे निष्पाप, मैंने पहले ही बताया है कि इस लोकमें निष्ठा दो प्रकारकी होती है—एक तो ज्ञानके द्वारा सांख्योंकी और दूसरी, कर्म्मके द्वारा योगियोकी ।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

मनुष्य यदि कर्म्मका आरम्भ न करे तो इतनेसे ही वह

कर्मसे अलग नहीं रह सकता। और केवल सन्यासे अर्थात् कर्मका त्याग करनेसे भी,कार्यकी सिद्धि नहीं होती।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

क्योंकि एक क्षण भी मनुष्य कुछ न कुछ किये बिना रह नही सकता। प्रकृति सबसे कर्म कराती है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो पुरुष कर्मेन्द्रियोको * दबाकर मनसे उनके विषयोंका चिन्तन करता है वह पागल हो जाता है और लोग उसे दाम्भिक (मक्कार) कहते हैं।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

पर जो चित्तमे इन्द्रियोंको अधीनकर उनके द्वारा कर्म कराता है अथच उनमे आसक्त नही होता अर्थात् स्वयम् उनके अधीन नही होता, वही पुरुष श्रेष्ठ है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

तुम अपना कर्त्तव्य करो, क्योंकि कुछ भी न करनेसे कर्त्तव्य कर्म करना अच्छा है, यदि कोई कर्म न करोगे तो तुम्हारे शरीरकी भी रक्षा न होगी।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

* पाच कर्मेन्द्रिया ये है, यथा,—हाथ, पैर, मुख, गुदा और उपस्थ।

यज्ञके* अतिरिक्त जो कर्म्म किये जाते हैं वे ही इस लोकमे बन्धनके कारण होते हैं। हे अर्जुन, आसक्ति त्यागकर तुम सुखसे यज्ञार्थ कर्म्म करो।

सहयज्ञा प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

प्रारम्भमे सृष्टि कर्त्ताने जब प्रजा उत्पन्न की उसी समय यज्ञ भी उत्पन्न किये और प्रजा से कहा, "इसकी सहायतासे तुम लोगोंकी वृद्धि होगी, यह तुम्हारे इष्ट मनोरथ पूर्ण करेगा।"

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु व ।
परस्पर भावयन्त श्रेय· परमवाप्स्यथ ॥११॥

इसकी सहायतासे तुम देवताओंको सन्तुष्ट करो और देवता तुम्हे सन्तुष्ट करे। परस्परको सन्तुष्टकर तुमलोग परम सुख पाओगे।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभावित ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव स ॥१२॥

यज्ञसे देवता तृप्त होकर तुमको अभीष्ट सुख देंगे। पर उनका दिया हुआ उनको अर्पण किये बिना जो स्वयम् उपभोग करता है वह वस्तुत· चोर है।

यज्ञ शिष्टाशिन सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषै ।
भुंजते ते त्वघ पापा ये पचत्यात्मकारणात् ॥१३॥

यज्ञ करके बचा हुआ भाग जो स्वयम् ग्रहण करते हैं वे सज्जन सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। पर जो पापी केवल अपने ही लिये अन्न पकाते हैं वे पापके भागी होते हैं।

---

* यज्ञका अर्थ अगले अध्यायमे बताया जायगा।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भव ॥१४॥

प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्न वृष्टिसे उत्पन्न होता है, वृष्टि यज्ञसे उत्पन्न होती है और यज्ञ कर्म्मसे उत्पन्न होता है ।

कर्म ब्रह्मोद्भव विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

कर्म्मकी उत्पत्ति ब्रह्मसे हुई है । ब्रह्मका कभी नाश नही होता और वह अन्य किसीसे उत्पन्न नही हुआ है। इसलिये सब पदार्थों मे रहनेवाला ब्रह्म यज्ञमें भरा हुआ है ।

एव प्रवर्तितं चक्र नानुवर्तयतीह य ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघ पार्थ स जीवति ॥१६॥

इस प्रकार चलाया हुआ चक्र जो आगे नहीं चलाता उसका जीना व्यर्थ है—पापमय है । वह इन्द्रियोके सुखमें लिप्त रहता है इसीसे उसका जीवित रहना व्यर्थ है ।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानव ।
आत्मनेव च सन्तुष्टस्तस्य कार्य न विद्यते ॥१७॥

हां, जो मनुष्य आत्मामें ही रम गया है ("रमि राम रहा है"), आत्मसुखसे ही तृप्त हो गया है, आत्मामें ही सन्तुष्ट रहता है, उसके लिये कोई कर्त्तव्य नही है ।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेपु कश्चिदर्थव्यपाश्रय ॥१८॥

उसके कर्म करनेसे भी कोई लाभ नही है और न करनेसे भी कोई लाभ नहीं है , और किसी प्राणीसे अपना लाभ करा लेनेकी उसे आवश्यकता भी नही है ।

तस्मादसक्त सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

पर तुम वैसे (ब्रह्मज्ञानी) नहीं हो, इसलिये तुमको कर्त्तव्य कर्म्म अवश्य करने होगे। पर जो कर्म्म करोगे उसमें आसक्त मत हो, क्योंकि जो मनुष्य निष्काम भावसे कर्म्म करता है वह उत्तम पद पाता है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

कर्म्मसे ही जनकादिको उत्तम सिद्धि मिली। (इसके अति-रिक्त कर्म्म करनेका एक और कारण है।) वह यह कि, जिसमें अज्ञानी पुरुष अपने अपने कर्त्तव्य कर्म्म करें—उच्छृङ्खल न हो जायँ, इस हेतु भी तुमको कर्म्म करना चाहिये।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

क्योंकि, श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ करता है वही और लोग भी करते हैं, श्रेष्ठ जिसे उत्तम समझता है और लोग भी उसे ही उत्तम समझते हैं।

(इसलिये बड़े आदमियोंको खूब सोच समझकर काम करना चाहिये और आचरण शुद्ध रखना चाहिये, क्योंकि समाज उनका ही अनुसरण करता है। सामान्य पुरुषके कर्म्मका फल उसको ही भोगना पड़ता है पर श्रेष्ठ पुरुषोंके कर्म्मका फल समाजको भी भोगना पड़ता है। बड़ोंको अपना यह दायित्व कभी न भूलना चाहिये।)

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

हे अर्जुन, मुझे तो कोई कर्त्तव्य ही नही है। तीनो लोकोंमे ऐसी वस्तु नही है जो मुझे नही मिली है और आगे मिलनेवाली है। तोभी मै कर्म्म करते ही रहता हूं।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रित ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या पार्थ सर्वशः ॥२३॥

क्योंकि, आलस्य त्याग यदि मै ही कर्म्म न करूंगा तो मनुष्य भी सब प्रकारसे मेरा ही अनुसरण करेंगे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमा प्रजा ॥२४॥

यदि मैं कर्म्म न करूं तो विश्वब्रह्माण्डका नाश होगा, वर्ण-संकर होगा और समस्त प्रजाका सर्वनाश होगा।

(कर्म्म न करनेसे भी कैसे कर्म्म होता है, इसका यही उदाहरण है।)

सक्ता कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसग्रहम् ॥२५॥

हे भारत, विद्वानोंको चाहिये कि, जनताको सुमार्ग दिखावें, स्वय आसक्त न होकर भी इस प्रकार कर्म्म करना चाहिये कि उसे देखकर कर्मासक्त अज्ञानी लोग भी वैसे ही कर्म्म करें।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वानयुक्त समाचरन् ॥२६

जिनकी कर्म्ममे आसक्ति है-जो कर्म्ममें हैं ऐसे मूर्खों में कभी बुद्धिभेद उत्पन्न मत करो अर्थात् ऐसा कोई कर्म्म न करो जिससे मूर्ख पुरुष कर्म्मसे विमुख हो जायं, इसलिये स्वयम् इस प्रकार कर्म्म करना चाहिये जिसमें मूर्ख भी उसका अनुकरण करें।

प्रकृते· क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वश ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

प्रकृतिके गुणोंसे सब कर्म्म उत्पन्न होते हैं। पर अहङ्कारसे जिसकी बुद्धि मारी गयी है वह अपनेको ही सब कर्म्मोंका कर्त्ता समझता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

पर, हे वीर, जो गुण और कर्म्मका वास्तविक तत्त्व जानता है, वही समझता है कि गुणोंकी प्रवृत्ति गुणोंकी ओर होती ही है—अर्थात् इन्द्रियोंका खिचाव विषयोंकी ओर ही होता है और इसी व्यापारको कर्म्म कहते हैं, इसलिये वह कर्म्ममें अलिप्त रहता है।

प्रकृतेर्गुणसम्मूढा सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृतिका गुण न जाननेवाले विषयान्ध पुरुष इन्द्रियोंके विषयभोग स्वरूप कर्म्मोंमें ही लिप्त हो जाते हैं। ऐसे अज्ञानी मूर्खोंको ज्ञानकी बाते बताकर बुद्धिभेद न करना चाहिये।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगत ज्वर ॥३०॥

"मैं परमात्माका ही एक अंश हूं और वही मुझसे कर्म्म कराता है" यह निश्चय कर लो, सब कर्म्म मुझे अर्पण करो, फलकी आशा छोड दो, अहङ्कारका त्याग करो और शोकरहित होकर युद्ध करो।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवा· ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभि· ॥३१॥

जो पुरुष मात्सर्य्यका त्यागकर मेरे इस कथनपर विश्वास करके कर्म्म करते हैं, वे कर्म्मके बन्धनमें कभी नही फंसते।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतस ॥३२॥

पर जो लोग झूठे तर्क करते हैं और मेरे मतके अनुसार बर्ताव नहीं करते, उनको सब प्रकारके ज्ञानसे रहित मूर्ख समझो।

सदृशं चेष्टते स्वस्या प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रह किं करिष्यति ॥३३॥

ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार व्यवहार करता है, जीवमात्र अपने अपने स्वभावके अनुसार रहते हैं, वहा मनका दृढ निश्चय करनेसे भी क्या होगा?

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

प्रत्येक इन्द्रियकी किसी न किसी विषयसे प्रीति और किसी न किसी विषयसे शत्रुता रहती ही है, उस प्रीति और शत्रुताके चक्करमें मनुष्यको न पड़ना चाहिये, क्योंकि ये भी उसके शत्रु हैं।

(अर्थात् पुरुषको कामक्रोधादिके वश न होना चाहिये, क्योंकि ये मनुष्यके शत्रु हैं।)

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेय परधर्मो भयावह ॥३५॥

अपना कठिन धर्म्म दूसरेके सहज धर्म्मसे हितकर होता है। स्वधर्म्ममें मरना भी कल्याणकारक है, पर परधर्म्म भयकर होता है।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुष. ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

हे यादव, मनुष्यकी इच्छा न रहने हुए भी वह विवश होकर पाप करने लगता है , इसके लिये उसे कौन प्रवृत्त करता है ?

श्रीकृष्ण उवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

मनुष्यको पापमें प्रवृत्त करानेवाला काम और क्रोध है, इसकी उत्पत्ति रजोगुणसे होती है, यह बडा पेटू और महापापी होता है, इसे अपना शत्रु समझो ।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

अग्नि जैसे धूए से ढकी रहती है, ऐनक जैसे मलसे ढका रहता है, अथवा गर्भ जैसे झिल्लीसे ढका रहता है, उसी प्रकार सारा ससार इससे ढका है ।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

हे कौन्तेय, यह नित्यका शत्रु काम न कभी न तृप्त होने-वाली अग्निके समान है , इसने ज्ञानी पुरुषोके ज्ञानको भी ढक रखा है ।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

कहा है कि, इन्द्रिया, मन और बुद्धि इस कामके आश्रय-स्थान हैं। इनकी सहायतासे यह देहीका (आत्माका) ज्ञान छिपा देता है और उसे मोहमे गिराता है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिये, भरतश्रेष्ठ, तुम पहले इन्द्रियोंका अपने अधीन कर लो और शास्त्रज्ञान तथा अनुभवज्ञानको नष्ट करनेवाले इस भयङ्कर कामको मार डालो।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः पर मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे परतस्तु स ॥४२॥

कहा है कि, इन्द्रिया भिन्न हैं, इन्द्रियोसे मन भिन्न है, मनसे बुद्धि भिन्न है और बुद्धिसे भी यह देही अथवा आत्मा भिन्न है।

एव बुद्धेः परं बुद्ध्वा सस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इसलिये, जानो कि, बुद्धिसे भिन्न जो देही वही तुम हो और उसको अर्थात् अपनेको ही अपने अधीन कर रखो, तब, हे महाबाहो, तुम उस अत्यन्त दुर्धर शत्रु कामको मार सकोगे।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूप० कर्मयोगो
नाम तृतीयोऽध्याय ।

अथ चतुर्थ अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

सदा सफल होनेवाला यह योग मैंने विवस्वान् अर्थात् सूर्य्यको बताया था सूर्य्यने (अपने पुत्र) मनुको बताया, और मनुने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकुको बताया ।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥२॥

हे परन्तप, इस प्रकार क्रम क्रमसे यह योग सब राजर्षियोंको मालूम हुआ । अनन्तर समयके प्रभावसे यह लुप्त हो गया ।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

यह वही प्राचीन योग है । तुम मेरे भक्त और मित्र हो, इसलिये आज मैंने तुमको बताया, क्योंकि यह रहस्य उत्तम है ।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

तुम्हारा जन्म तो अभी हुआ है और सूर्य्यका बहुत दिन पहले हुआ था, इस दशामें मैं यह कैसे मानूं कि तुमने ही यह योग सूर्य्यको बताया था ?

श्रीकृष्ण उवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥५।

हे परन्तप, हे अर्जुन, मेरे भी अनेक जन्म हो गये और तुम्हारे भी अनेक हो गये, यह मुझे याद है, पर तुम भूल गये हो।

अजोऽपिसन्नव्ययात्माभूतानामीश्वरोऽपिसन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥६॥

यद्यपि मैं अजन्मा हूं, यद्यपि मेरा स्वभाव शाश्वत है, यद्यपि मैं सब भूतोंका स्वामी हूं, तोभी अपनी प्रकृतिमें स्थित होकर अपनी मायासे मैं जन्म ग्रहण करता हूं ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

हे भारत, जब धर्म्म क्षीण होता और अधर्म्म प्रबल होता है, तब तब मैं जन्म लेता हूं ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥

सज्जनोंकी रक्षाके लिये और दुष्टोंका नाश करनेके लिये तथा धर्म्मकी स्थापना करनेके लिये मैं युग युगमे जन्म लेताहूं ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेव यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

जो मेरे इस अलौकिक जन्म और कर्म्मका तत्त्व जानता है, हे अर्जुन, वह मृत्युके बाद फिर जन्म नहीं लेता, वह मुझे प्राप्त करता है, अर्थात् मुक्ति पाता है ।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागता ॥१०॥

जिनका प्रेम, भय और क्रोध नष्ट हो गया था, जिनका नेह केवल मुझसे था, जिन्हें मेरा ही आसरा था, ऐसे अनेक मनुष्य ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मुझमें मिल गये।

येयथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वश ॥११॥

जो जिस भावसे मेरा स्मरण करते हैं मै उन्हे उसी प्रकार-का फल देता हू। हे पार्थ, मनुष्य चाहे जिस मार्गसे उपासना करें पर अन्तमे वे उसी मार्गमें आते हैं जो मेरे पास आनेका है।

कांक्षन्त कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवता ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

साधारणत मनुष्य कर्मसिद्धिकी इच्छासे देवताओंकी पूजा करते हैं, क्योंकि इस मनुष्यलोकमें कर्म बहुत शीघ्र सिद्ध होता है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागश ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

गुण और कर्मके भेदोंके अनुसार मैंने चार प्रकारके वर्णो की रचना की है। यद्यपि मैं उनका कर्ता हू, तोभी मैं कुछ नही करता, मुझे श्रम आदि विकार नहीं होते।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बद्ध्यते ॥१४॥

मुझे कर्म बद्ध नही कर सकते और मैं कर्मफलकी इच्छा

भी नहीं करता, इसी प्रकार जो मुझे भलीभांति जानता है, वह भी कर्म्ममें बद्ध नहीं होता।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

यह जानकर प्राचीन समयके मुमुक्षुओंने भी कर्म्म किया था, इसलिये पहलेके लोगोंने जो कर्म्म किया था वही तुम भी करो।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥१६॥

वस्तुतः कर्म्म क्या है और अकर्म्म क्या है, इसका विचार करनेमें विद्वान् भी घबरा जाते हैं, इसलिये कर्म्म क्या है, यह मैं तुमको बताता हूं। इसके जाननेसे तुम दुःखोंसे छुटकारा पा जाओगे।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्म्म भी जानना चाहिये, विकर्म्म अर्थात् शास्त्रविरुद्ध कर्म्म किसे कहते हैं यह भी जानना चाहिये और अकर्म्म अर्थात् कर्म्मसे मुक्त कैसे रहा जाता है, यह भी जानना चाहिये। कर्म्मकी गति अत्यन्त गहन—गभीर है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

स्वधर्म्म विहित कर्म्म अकर्म्म है, अर्थात् वह करके भी न कियेके समान है—उसके करनेसे कर्म्म करनेका दोष नहीं होता, पर साधारण लोगोंके मतसे कुछ न करना ही अकर्म्म है, वैसी

दशामें अकर्म्ममें भी कर्म्म होता है—कुछ न करनेवालेको कर्म्म करनेका दोष लगता है। यह जाननेवाला सब मनुष्योंमें बुद्धिमान् और कर्म्म करते रहनेपर भी योगी है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिता ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहु पण्डितं बुधाः ॥१९॥

जो फलकी इच्छा किये बिना कर्म्म करता है, जिसके कर्म्म ज्ञानरूप अग्निसे दग्ध हुए है—अर्थात् निर्मल हुए हैं, ज्ञानी उसको ही पण्डित कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

कर्म्म-फलकी आशा छोडकर जो सर्वदा सन्तुष्ट रहता है, और 'मैं' पनसे मुक्त हो जाता है, वह चारों ओरसे कर्म्मो से घिरा रहनेपर भी कुछ भी नही करता है, अर्थात् निर्दोष रहता है।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रह ।
शारीर केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

जिसकी सब वासनाए नष्ट हो गयी हैं, जिसका चित्त और शरीर स्वाधीन है, जो सब सांसारिक बखेडोंसे अलग हो गया है, वह यदि केवल ऐसे कर्म्म करे जो शरीरके जीवित रहनेके लिये आवश्यक हैं, तो उसे उन कर्म्मों का दोष नहीं लगता।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सर ।
सम सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्ध्यते ॥२२॥

दैवयोगसे जो कुछ मिल जाय उसीपर जो सन्तुष्ट रहता है—अर्थात् स्वार्थसिद्धिके लिये उद्योग नहीं करता, शीत उष्ण आदि जिसे सता नहीं सकते, किसीसे शत्रुता नहीं करता, लाभ

और हानि दोनों ही जिसके लिये समान हैं, वह कर्म्म करे भी तो वे कर्म्म उसे बद्ध नहीं कर सकते।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानवस्थितचेतस ।
यज्ञायाचरत कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

जो वासना रहित हो गया है, रागद्वेषादिसे जो मुक्त हो गया है, जिसको प्रकृत ज्ञान प्राप्त हुआ है और केवल यज्ञके लिये कर्म्म करता है, उसके समस्त कर्म्म लुप्त हो जाते हैं—उसे कर्म्म दोष नहीं लगता।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

जो पुरुष यज्ञपात्रको ब्रह्म समझता है, अग्निको ब्रह्म समझता है, यजमानको ब्रह्म समझता है, होमक्रियाको ब्रह्म समझता है, इस प्रकार ब्रह्ममे ही जिसकी एकाग्रता हो गयी है, उसको ब्रह्मप्राप्तिरूप ही फल मिलता है—वह ब्रह्ममय हो जाता है।

दैवमेवापरे यज्ञ योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञ यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

कोई तो देवताओंके लिये यज्ञ करता है अर्थात् देवताओंको आहुति देता है, कोई ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मरूप पदार्थोंका ही होम करता है।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये सयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

और कोई आत्मसंयमरूप अग्निमें नाक, कान आदि इन्द्रियोंका हवन करता है, तथा कोई इन्द्रियरूप अग्निमें शब्दादि विषयोंकी आहुति देता है।

(प्रथम श्रेणीके पुरुष आत्मसंयम करते हैं और दूसरी श्रेणीके इन्द्रियदमन।)

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

अन्य प्रकारके कुछ लोग आत्मामें ध्यानकी एकाग्रतारूप अग्निको ज्ञानरूप साधनोंसे प्रदीप्त (सुलगा) कर उसमें सब इन्द्रियोंके और प्राणोंके कर्मों का हवन करते हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

कोई धनदानरूप यज्ञ करता है, कोई तपरूप यज्ञ करता है, कोई योगरूप यज्ञ करता है और कोई कठोर व्रतकर बड़े परिश्रमसे वेदाध्ययनरूप अथवा ज्ञानार्जनरूप यज्ञ करता है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

अपानवायु और प्राणवायुकी गति बन्दकर प्राणायाम करनेवाले पुरुष अपानवायुमे प्राणवायुका और प्राणवायुमे अपानवायुका हवन करते हैं।

(अपानवायुमें प्राणवायु मिलानेको "पूरक" और प्राणवायुमे अपानवायु मिलानेको "रेचक" विधि कहते हैं। प्राण और अपान, नीचे जानेवाले और ऊपर आनेवाले, दोनों प्रकारके वायुकी गति रोककर, प्राणोंकी क्रिया सर्वथा रोककर, प्राणायाम किया जाता है; इसे "कुम्भक" विधि कहते हैं।)

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

कितने ही आहार कम करते करते प्राणोंमें प्राणोंका यज्ञ करते हैं। ये सब प्रकारके यज्ञ करनेवाले यज्ञके साधनोंसे अपने अपने पापोंका नाश करते हैं।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

हे कुरुश्रेष्ठ, यज्ञसे बचा हुआ अन्न, और यज्ञसे बचे हुए समयमें सिझाया हुआ अन्न, अमृतके समान है। यह अन्न खानेवाले पुरुष सनातन ब्रह्म प्राप्त करते हैं। जो यज्ञ नहीं करता उसका यह लोक भी बिगड जाता है, परलोककी तो बात ही जाने दो।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

ऐसे अनेक प्रकारके यज्ञ ब्रह्मने वेदमुखसे कहे हैं, इन सबका मूल कर्म्म है; यह तुम जान लो, तब बन्धनसे मुक्त हो जाओगे।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

हे परन्तप, हे पार्थ, द्रव्यमूलक यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानमूलक यज्ञ श्रेष्ठ है। क्योंकि कर्म्मके फलोंका अन्तर्भाव ज्ञानके फलोंमें होता है। (अर्थात्, सब कर्म्मोंका फल ज्ञानसे मिलता है।)

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

जान लो कि, ज्ञानी पुरुषोंको बारम्बार नमस्कार करनेसे, उनसे फिर फिर प्रश्न करनेसे, उनकी सेवा करनेसे, वे तुमको इस ज्ञानका उपदेश करेंगे।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

हे पाण्डव, यह ज्ञान होनेसे तुम्हारे मनमें ऐसा मोह फिर कभी उत्पन्न न होगा और समस्त जीवोंको तुम अपनेमे और मुझमें समदृष्टिसे देखने लगोगे।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥३६॥

कल्पना करो कि, तुम सब पापियोंसे बड़े पापी हो, तोभी इस ज्ञानरूप नौकाकी सहायतासे तुम सहजमें ही इस पाप-समुद्रके पार जा सकोगे।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

हे अर्जुन, जैसे प्रदीप्त अग्नि काठको जलाकर भस्म कर डालती है उसी प्रकार यह ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मों को जला डालती है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धिः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

इस लोकमें ज्ञानके समान पवित्र और कुछ भी नहीं है। कर्मयोगी उचित समयपर आप ही आप आवश्यक योग्यता प्राप्तकर ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

जिसमें श्रद्धा है, जिसका एकमात्र ज्ञानपर ही दृढ़ विश्वास

है, जिसने इन्द्रियोंका दमनकर उन्हें अपने अधीन कर लिया है, उसीको ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान प्राप्त होनेसे उसे शान्ति मिलती है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

जो अज्ञानी है और जिसमें श्रद्धा नहीं है, जिसका मन सदा सन्देहयुक्त रहता है, उसका नाश होता है। सन्देही पुरुषके यह लोक और परलोक दोनों ही बिगडते हैं और उसे कभी सुख नही होता।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥

हे धनञ्जय, योगके द्वारा जिसने कर्म्मका त्याग किया है और ज्ञानके द्वारा सन्देहोंका समूल नाश किया है, उस सावधान पुरुषको कर्मबन्धन प्राप्त नहीं होते।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इसलिये, हे भारत, उठो! अज्ञानके कारण तुम्हारे चित्तमें जो सन्देह उत्पन्न हुआ है उसे ज्ञानरूप शस्त्रसे काट डालो और योगका आश्रय ग्रहण करो।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूप० ज्ञानविभागयोगो
नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

अथ पंचम अध्याय

०००००००

अर्जुन उवाच

सन्यास कर्मणां कृष्ण पुनर्योग च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेक तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

हे कृष्ण, तुम एक बार तो कर्म्मके सन्यासकी अर्थात् कर्म-त्यागकी प्रशंसा करते हो और फिर योगकी अर्थात् कर्म्म करने की प्रशसा करते हो। पर इन दोनोमे निश्चितरूपसे जो हित-कर हो, वही मुझे बताओ।

श्रीकृष्ण उवाच

संन्यास कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

सन्यास और कर्म्मयोग, ये दोनो ही मोक्ष देनेवाले हैं। पर इन दोनोमें कर्म्म संन्यास अर्थात् त्यागकी अपेक्षा कर्म्मयोग अर्थात् निष्काम कर्म्मका आचरण श्रेष्ठ है।

ज्ञेय स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुख बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

जो न किसीसे शत्रुता करता है और न जिसे किसीकी आकाक्षा है, वह नित्यसन्यासी कहाता है, क्योंकि, हे महा-बाहो, जो रागद्वेषादिसे मुक्त है वह बन्धनोंसे भी सहज ही छुट जाता है।

सांख्ययोगौ पृथग्बाला प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थित सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

सन्यास अर्थात् सांख्यमार्ग और योग अर्थात् कर्ममार्ग, इन दोको मूर्ख ही भिन्न कहते हैं, पण्डित नहीं कहते। दोमें एकका भी यदि उत्तम रीतिसे आश्रय लिया जाय, तो दोनोंका फल मिलता है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

जो पद सांख्योंको (ज्ञानियोंको) मिलता है वही योगियों को भी मिलता है। सांख्य और योगको जो एक समझता है, उसीका ज्ञान उत्तम है।

सन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥

हे महाबाहो, योगके बिना सन्यासका होना कठिन है, पर योगयुक्त मुनिको संन्यास भी साध्य होता है और शीघ्र ही ब्रह्मकी प्राप्ति भी होती है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

जो योगयुक्त है उसका चित्त शुद्ध होता है, शरीर स्वाधीन होता है, इन्द्रियोंपर उसका प्रभुत्व रहता है, वह जीवमात्रको अपने समान समझता है और कर्म्म करते रहनेपर भी कर्म्म दोषसे अलिप्त रहता है।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

योगयुक्त पुरुष ही तत्त्व जानता है, वह जानता है कि मैं कुछ नहीं करता। देखते, सुनते, छूते, सूंघते, खाते, सोते, सांस लेते, बोलते, दान देते और लेते, तथा आखें खुली रहते और बन्द रहते भी मनुष्यकी इन्द्रिया सब अवस्थाओंमे अपने अपने विषयों-में प्रवृत्त रहती हैं, यह बात वह अच्छी तरह जानता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संग त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

जो कर्म्मफलकी इच्छा न करते हुए कर्म्म करता है और सब कर्म्म ब्रह्मको अर्पण करता है, वह पापसे वैसा ही अलग रहता है जैसे कमलपत्र पानीसे अलग रहता है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिन कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥११॥

योगी चित्तशुद्धिके लिये, वासना त्यागकर, शरीर, मन, बुद्धि, और केवल इन्द्रियोंसे भी कर्म्म करते हैं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥१२॥

योगी कर्म्मफलकी इच्छा त्यागकर परमेश्वरपर श्रद्धा रखकर परम शान्ति प्राप्त करता है। योगहीन पुरुष लोभके वश होकर कर्म्मफलकी इच्छा करता है और इसीसे बद्ध हो जाता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥१३॥

जिसका चित्त स्वाधीन है वह मनुष्य मनसे सब कर्म्मोंका त्यागकर इस शरीररूप नौ द्वारोंके नगरमें बिना कुछ किये-कराये ही सुखसे रहता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

परमात्मा किसी मनुष्यका न कर्तृत्व * ही बनाता है न कर्म्म, और न वह कर्त्ताको कर्म्मका फल देनेकी व्यवस्था ही करता है, यह सब माया करती है ।

(नित्य, शुद्ध और निर्विकार ब्रह्म न किसीमें यह अभिमान ही उत्पन्न करता है कि "मै कर्म्म करनेवाला हू," न वह किसीसे कर्म्म करनेको कहता है, अथवा न किसीको कर्म्मफल देता है, ये सब बखेडे मायाके हैं ।)

नादत्ते कस्यचित्पाप न चैव सुकृत विभु ।
अज्ञानेनावृत ज्ञान तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

संसारका स्वामी होनेपर भी परमेश्वर किसीको न पाप देता है न पुण्य, ज्ञान अज्ञानसे ढक गया है, इसीसे जीव मोहमें फसते हैं ।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मन ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

आत्मज्ञानसे जिसका अज्ञान नष्ट हो गया है, उसका ज्ञान परमेश्वरके स्वरूपको वैसे ही प्रदर्शित करता है जैसे सूर्य्य समस्त सृष्टिको प्रकाशित करता है ।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणा ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषा ॥१७॥

उसमें (परब्रह्ममें) ही जिनकी बुद्धि लग जाती है, जो उसीको अपनी आत्मा समझते हैं, एकमात्र उसीमें जिनकी

* 'मैं कर्त्ता (करनेवाला) हू" यह भाव ।

श्रद्धा है, और उसीको जो परमपुरुषार्थ समझते हैं—उनके सब पाप आत्मज्ञानसे धो डाले जाते हैं और वे फिर जन्म नही लेते।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

ज्ञानी समदर्शी होते है, वे विद्या-विनय सम्पन्न ब्राह्मणको, बैलको, हाथीको, कुत्तेका मास खानेवाले चाण्डालको, कुत्तेको भी एक ही दृष्टिसे देखते है।

इहैव तैर्जित सर्गो येषां साम्ये स्थित मन।
निर्दोषं हि सम ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिता ॥१९॥

जिनके मनमें इस प्रकारकी समता उत्पन्न हो गयी है, उन्होंने इस लोकमें रहकर ही संसारको जीत लिया है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सर्वत्र समान है, इसलिये वे ब्रह्ममे मिल गये हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थित ॥२०॥

जिसने ब्रह्मको जाना और ब्रह्ममय हो गया, वह प्रियके मिलनेसे आनन्दित भी नहीं होता तथा अप्रिय प्राप्त होनेसे दुखित भी नही होता।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥२१॥

बाहरी पदार्थों में चित्तको आसक्त न होने देकर जो भीतरी सुखका अनुभव करता है, वह ब्रह्मने अन्त.करणको मिलाकर अक्षय सुख लाभ करता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दु खयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्त कौन्तेय न तेषु रमते बुध' ॥२२॥

जो भोग इन्द्रियोंके स्पर्शसे होते हैं वे वस्तुतः दुखदायी होते हैं। उनका प्रारम्भ भी है और अन्त भी है। हे कौन्तेय, ज्ञानी ऐसे भोगोंमे कभो नहीं रमता।

शक्नोतीहैव यः सोढु प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भव वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

जो मनुष्य इस लोकमें रहते ही शरीरत्यागके पहले काम-क्रोधकी उत्तेजनाका दमन कर सकता है, वही योगी है—वही सुखी है।

योऽन्त सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाण ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

जिसको भीतरी सुख, भीतरी आनन्द और भीतरी प्रकाश प्राप्त हुआ है, वह योगी ब्रह्मरूप होकर ब्रह्ममें विलीन हो जाता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषय क्षीणकल्मषा ।
छिन्नद्वैधा यतात्मान सर्वभूतहिते रता' ॥२५॥

जिनको सत्यज्ञान प्राप्त हुआ है, जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, जिनका मन अपने अधीन हुआ है, जीवमात्रका हित ही जिनका व्रत है, वे ब्रह्ममें मिल जाते है।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

जो काम-क्रोधसे दूर हो गये हैं, जिनकी कर्ममें वासना नहीं है, जिनका चित्त भली भाति अपने अधीन हो गया है,

जिनको आत्माका तत्त्व मालूम हो गया है, उनको दोनों लोकोंमें ब्रह्मनिर्वाण मिलता है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

बाहरी विषयोंके स्पर्शसे अलग होकर, दोनों भौहोंके बीचमे दृष्टि लगाकर, प्राणवायु और अपानवायुको एकसा बनाकर जो मनुष्य मन, इन्द्रियों और बुद्धिको अपने अधीन कर लेता है, इच्छा, भय और क्रोधको जिसने दूर कर दिया है, जिसे मोक्ष ही एकमात्र उपार्जन करने योग्य पदार्थ मालूम होता है, वह सर्वदा मुक्त ही है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

मैं यज्ञ और तपस्याका भोक्ता हूं, सब जगत्का परमेश्वर हूं, यह जो जानता है, वही शान्ति पाता है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूप० सन्यासयोगो
नाम पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ षष्ठ अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

अनाश्रित कर्मफल कार्यं कर्म करोति य ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रिय ॥१॥

कर्मफलकी इच्छा त्यागकर जो कर्त्तव्यकर्म करता है, वही सच्चा संन्यासी अर्थात् त्यागी और सच्चा योगी है। केवल अग्निहोत्रका और कर्मका त्याग करनेवाला मनुष्य सन्यासी नहीं कहाता।

य संन्यासमिति प्राहुर्योगं त विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

हे पाण्डव, जिसे संन्यास कहते हैं वह वास्तवमें योग ही है, क्योंकि, जिसने अपनी समस्त वासनाओंका संन्यास अर्थात् त्याग नहीं किया है, वह योगी भी नहीं है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शम कारण मुच्यते ॥३॥

जो मुनि योग प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिये उसका साधन कर्म ही बताया गया है, और जो योग प्राप्त कर चुका है उसका ज्ञानपूर्ण होनेका साधन चित्तका समाधान है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

जिस समय वह विषयों और कर्मोंकी आसक्तिसे छूट

गया और सब वासनाओंसे विमुक्त हो गया, उसी समय उसका योग भी सिद्ध हो गया, यही ज्ञानीजनोंका मत है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

स्वयम् ही अपनेको उन्नत करना चाहिये—अवनत होनेसे रोकना चाहिये, क्योंकि मनुष्य आप ही अपना मित्र और आप ही अपना शत्रु है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

जिसने अपने ही विचारसे अपने मनको स्वाधीन कर लिया है, वह अपना हितकर्त्ता है और जिसने विवेकका त्याग किया है वह स्वयम् ही अपनेसे शत्रुता करता है।

जितात्मन· प्रशान्तस्य परमात्मा समाहित· ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयो· ॥७॥

जिसने अपने मनको जीत लिया है और शान्ति पायी है, उसकी आत्मा शीत-उष्ण, सुख-दु ख, मान-अपमानके होते हुए भी अत्यन्त स्थिर रहती है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रिय ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चन ॥८॥

जिसने शास्त्रज्ञानसे और अनुभवज्ञानसे अपने अन्त करणको तृप्त किया है, जो निर्विकार हो गया है—अर्थात् सुख-दु·खादि जिसे विचलित नहीं कर सकते, जिसकी इन्द्रियां अपने वशमें हैं, जिसके लिये मिट्टीका ढेला, पत्थर और सोना समान है, वही योगी कहलाता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, सम्बन्धी, साधु और पापी—इन सबको जो सम दृष्टिसे देखता है, वह अधिक श्रेष्ठ है।

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

योगीको एकान्तमें रहकर, मन और देह दोनोंको भली भांति वशकर, वासनाओंको दूरकर, समस्त प्रपञ्चका त्यागकर मनको शान्त रखना चाहिये।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

योगीको निर्मल स्थानमें आसन लगाना चाहिये। आसन अधिक ऊंचा या अधिक नीचा न होना चाहिये; उसपर दर्भ, उसपर व्याघ्रादिके चर्म्म और उसपर वस्त्र बिछाकर,

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

उसपर बैठना चाहिये तथा चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाएं रोककर, मनको एकाग्रकर, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योग करना चाहिये।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

शरीर, मस्तक और गर्दन यथास्थान रखकर, निश्चल होकर

इधर-उधर न देखते हुए, शान्तचित्त हो अपनी नाकके अग्र-भागपर भली भाँति दृष्टि लगाकर,

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

अन्तःकरणको शान्त रखकर, भयका त्यागकर, ब्रह्मचर्य्य धारणकर, मनको अपने अधीनकर, चित्तको मुझमें लगाकर और मुझे ही सर्वस्व समझकर योगसाधन करना चाहिये।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

इस प्रकार चित्तका निरोधकर जो सब समय मनको अपने अधीन रखता है वह मुझमें मिलकर अन्तमें परम निर्वाण पाता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

हे अर्जुन, जो बहुत खाता वा बिलकुल नहीं खाता, बहुत सोता है वा सोता ही नहीं, उसका योग सिद्ध नहीं होता।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

जो उपयुक्त आहार विहार करता है, कर्म्मोंका उचित प्रकारसे पालन करता है, जो यथासमय सोता और जागता है, उसका योग उसके सब दुःखोंका नाश करता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

जब उसके चित्तका संयम होता है और वह अपनेमें ही निश्चल हो जाता है, जब उसकी सब कामनाएं नष्ट हो जाती हैं तब वह "युक्त" अर्थात् योगीपदको प्राप्त होता है।

यथा दीपो निवासस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मन ॥१९॥

एक उदाहरण दिया जाता है कि, जैसे वायु-रहित स्थानमें दीप निश्चल—स्थिर रहता है, उसी प्रकार योगी अपने चित्तको निश्चल रखकर उसका संयम करता है और अन्तःकरणकी समाधी लगाता है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

जिस अवस्थामें योगाभ्यासके कारण चित्तका वेग रुककर विषयोसे अलग होने लगता है, जब मनुष्य शुद्ध चित्तसे आत्माको ही देखकर आत्मामे ही सन्तुष्ट होता है।

सुखमात्यन्तिक यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवाय स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

जिस अवस्थामे वह सुख प्राप्त होता है कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं है, जो केवल बुद्धिसे जाना जाता है पर इन्द्रियों-से नहीं जाना जा सकता, और जिस दशामें मनुष्य आत्मरूपसे विचलित नहीं होता,

य लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं तत ।
यस्मिंस्थितो न दु खेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥
तं विद्याद्दुःखसयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विंण्णचेतसा ॥२३॥

जो दशा दुःखसे इतनी दूर है कि, मनुष्यको उसके मिलने-पर उससे बढकर दूसरा कोई लाभ ही नहीं मालूम होता, और जिस दशामें रहते मनुष्यको विचलित करना बडेसे बड़े दुःखके लिये भी असम्भव हो जाता है, उस अवस्थाको योग कहते हैं। आलस्यहीन होकर और मनका दृढ निश्चय करके योगका अभ्यास करना चाहिये।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषत ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्तत· ॥२४॥

सङ्कल्प उत्पन्न होनेवाली समस्त कामनाओंका त्याग कर, इधर उधर भटकनेवाली इन्द्रियोंको मनके अधीन कर।

शनै शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मन· कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

धैर्यके द्वारा बुद्धिको अपने अधीनकर धीरे धीरे विषयोंसे दूर हटना चाहिये, मनको भलीभाति आत्मामें स्थिर करना चाहिये और किसी भी बातकी चिन्ता न करते हुए शान्त हो जाना चाहिये।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

चंचल और अस्थिर मन जिधर जिधर जाय उधरसे उसे खींच लाकर आत्माके वश करना चाहिये।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजस ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

काम क्रोध उत्पन्न करनेवाला रजोगुण शान्त होकर जिसका

मन अपने अधीन हो गया है, उस ब्रह्मरूप निष्पाप योगीको ही उत्तम सुख प्राप्त होता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

इस प्रकार मनको सर्वदा अधीन रखनेसे जो पापसे मुक्त हो गया है, उस योगीको ब्रह्मके साक्षात्कारका असीम सुख अनायास ही मिलता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

जिसका मन योगमें स्थिर हो गया है, उसकी दृष्टि भी सर्वत्र समान रहती है और वह अपनेको सब भूतोंमें तथा सब भूतोंको अपनेमें देखता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

जो सबमें मुझको और मुझमें सबको देखता है, उसके लिये कभी मैं नष्ट नहीं होता और मेरे लिये वह कभी नष्ट नहीं होता।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

जो अभेद भावसे रहता है, और सभी भूतोंमें मैं हूं यह जानकर मेरा भजन करता है, वह योगी चाहे जिस अवस्थामें रहे पर उसके वर्त्ताव ऐसे ही होते हैं कि मुझे प्रिय हो।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

हे अर्जुन, जो यह जानकर कि मेरे जैसा ही औरोंको भी सुख दु ख होता है, सबको सम दृष्टिसे देखता है, वही श्रेष्ठ योगी है।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्त· साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थिति स्थिराम् ॥३३॥

हे मधुसूदन, अपने समान सबको समझनेका योग तुमने बताया तो सही, पर मनकी चञ्चलताके कारण वह मुझमें स्थिर नहीं हुआ।

चञ्चलं हि मन कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

हे कृष्ण, मन अत्यन्त चञ्चल, उच्छृङ्खल, बलवान् और हठी है, उसको बाधना हवाको बाधनेके समान ही अत्यन्त कठिन मालूम होता है।

श्रीकृष्ण उवाच

असंशय महाबाहो मनो दुर्निग्रह चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

हे महाबाहो, मन अत्यन्त चञ्चल होता है और उसको बांधना अत्यन्त कठिन है, इसमें सन्देह नहीं। पर, हे कौंतेय, अभ्यासे और वैराग्यसे वह भी अधीन किया जा सकता है।

असयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मति· ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायत ॥३६॥

मेरा मत है कि, जिसके मनका संयम नहीं हुआ है उसके लिये योग दुर्लभ है, पर जिसका मन स्वाधीन हुआ है, वह यदि

मेरे कहनेके अनुसार यत्नपूर्वक उपाय करे, तो योग प्राप्त कर सकता है।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

हे कृष्ण, मान लो कि, कोई मनुष्य श्रद्धावान् है पर उसके मनका संयम नहीं हुआ है इसलिये वह योगसे विचलित हो गया है, उसका योग तो सिद्ध नहीं हुआ, पर उसकी दूसरी कौनसी गति होगी ?

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मण पथि ॥३८॥

हे महाबाहो, जिसका पहला आश्रय भी गया और ब्रह्मप्राप्ति भी नहीं हुई, वह दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर विच्छन्न मेघके समान नष्ट तो नहीं हो जाता ?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण, मेरा यह सन्देह तुमको ही दूर करना होगा, क्योंकि यह सन्देह दूर करनेवाला तुम्हारे सिवा दूसरा कोई नहीं है।

श्रीकृष्ण उवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

हे तात पार्थ, उसका यहा भी नाश नहीं होगा और परलोक-

में भी नहीं होगा। क्योंकि उत्तम कार्य्य करनेवाले किसी मनुष्यकी दुर्गति नहीं होती।

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

वह जीव उन लोकोंमें बहुत दिनतक वास करता है जिनमें पुण्यात्मा जाते हैं और अनन्तर वह योगभ्रष्ट किसी पवित्र श्रीमान्‌के यहा जन्म ग्रहण करता है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा वह बुद्धिमान् योगीके यहा ही जन्म लेता है। ऐसी जगह जन्म पाना भी तो इस लोकमें दुर्लभ है।

तत्र त बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूय. संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

पूर्वजन्ममें उसकी बुद्धिपर जो सस्कार हुए थे, इस जन्ममें उसे वे फिर प्राप्त होते हैं और वह उत्तम सिद्धिके लिये फिर प्रयत्न करने लगता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि स।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

अनेक बाधाओंमें पडनेपर भी पूर्वजन्मका अभ्यास उसे अपनी ओर खीचता है। और यद्यपि उसकी इच्छा योग जानने मात्रकी हो, तभी वह शब्दब्रह्म अर्थात् वेदके भी परे जाकर मुक्ति पाता है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी सशुद्धकिल्विष।
अनेकजन्मससिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

प्रयत्न और परिश्रमपूर्वक जो योगाभ्यास करता है वह सब पापोंसे मुक्त होकर अनेक जन्मोंके लिये योगका फलरूप उत्तम ज्ञान प्राप्तकर अन्तमे उत्तम गतिको प्राप्त होता है ।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

तपस्वियोंसे योगी श्रेष्ठ है , ज्ञानियोंसे योगी श्रेष्ठ है और फलकी आशासे कर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है । इसलिये, हे अर्जुन, तुम योगी बनो ।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥७४॥

और योगियोंमें भी जो अपने अन्त करणको मुझसे मिलाकर श्रद्धापूर्वक मुझे भजता है, उसे मैं सबसे अधिक श्रेष्ठ समझता हूं ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूप० ज्ञानयोगो
नाम षष्ठोऽध्याय ॥

अथ सप्तम अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

मय्यासक्तमना पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

हे पार्थ, मुझमें मनको स्थिर करके, मेरा ही आश्रय ग्रहण कर जिस समय तुम योगसाधन करते रहोगे, उस समय जिस रीतिसे तुम मुझे सन्देहरहित होकर भलीभांति जान सकोगे, मैं तुम्हें वह रीति बताता हूं, ध्यान देकर सुनो।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

मैं तुम्हें शास्त्रका और अनुभवका, दोनों प्रकारका ज्ञान बताऊंगा। इनके जान लेनेके बाद इस लोकमें जाननेयोग्य और कुछ न रहेगा।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

हजारों पुरुषोंमें एकाध ही सिद्धि प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है और जिनको सिद्धि प्राप्त हुई है उनमे भी एकाध ही मनुष्य वस्तुतः मुझे जानता है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

मेरी प्रकृतिके आठ भाग हैं, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

हे पार्थ, जान लो कि सब भूतोंका सनातन बीज मैं हूं। बुद्धिमानोंकी बुद्धि मैं हू। तेजस्वियोंका तेज मैं हू।

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

हे भरतश्रेष्ठ, बलवानोमे, काम और रागसे अर्थात् अभिलाषा और लोभसे रहित जो सात्त्विक बल रहता है, वह मैं हू और धर्म्मानुकूल काम भी मैं हू।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

जान रखो कि, ये समस्त सात्त्विक, राजस और तामस पदार्थ मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, तोभी मैं उनमें नही हूं पर वे मुझमें हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

तीनों गुणोसे व्याप्त इन अनेक पदार्थों ने समस्त जगत्को मोहमें डाल रखा है, इसलिये, जगत् यह नहीं जानता कि, मैं इन तीनोंसे अलग और अविकृत हूं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

मेरी यह अति दिव्य और त्रिगुणात्मिका माया अत्यन्त दुस्तर है। जो अनन्य भावसे मेरा ही भजन करते हैं, वे ही इसका पार पा सकते हैं।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

दुराचारी, मूढ और अधम पुरुषोंका ज्ञान मायाके कारण नष्ट होकर उनका स्वभाव आसुरी (राक्षसी) हो जाता है, इसलिये वे मेरी उपासना नहीं करते ।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन, पुण्यवान् ही मेरा भजन करते हैं। वे चार प्रकारके होते हैं, (१) आर्त अर्थात् रोगी (२) जिज्ञासु अर्थात् तत्त्व जाननेकी इच्छा करनेवाले, (३) अर्थार्थी अर्थात् भोग विलास चाहनेवाले, और (४) ज्ञानी ।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

इनमें सबसे श्रेष्ठ ज्ञानी है, क्योंकि उसका चित्त सब समय मेरी ओर लगा रहता है और वह केवल मेरी ही भक्ति करता है। ज्ञानीको मै अत्यन्त प्रिय हू और मुझे वह अत्यन्त प्रिय है ।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थित स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

ऐसे तो ये सभी उत्तम हैं, पर इनमें भी ज्ञानीको मै अपना आत्मा ही समझता हूं, क्योंकि वह मुझमें चित्त लगाकर, मुझे ही सर्वोत्तम गति समझकर, मेरा ही आश्रय ग्रहण करता है ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

बहुत जन्मोंके बाद यह जानकर कि वासुदेव ही सब कुछ है, ज्ञानी पुरुष मेरा भजन करता है। पर ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियता स्वया ॥२०॥

भिन्न भिन्न वासनाओंने जिनका ज्ञान हरण कर लिया है, वे अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार अन्यान्य देवताओंका भजन करते हैं और उन देवताओंके नियमोंमे आबद्ध होते हैं।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

जो पुरुष जिस देवताकी भक्ति करके आराधना करना चाहता है, उसकी श्रद्धा उस देवतामें मैं ही स्थिर करता हू।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान् ॥२२॥

वह उसी श्रद्धासे युक्त होकर उसकी आराधना करता है और उन कामनाओंका मैंने ही जो फल निश्चित कर रखा है वही उस देवतासे पाता है।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

पर वैसे अल्पबुद्धि मनुष्योंको कामनाओंका जो फल मिलता है, वह नाशवान् है। देवताओंके भक्त देवताके पास और मेरे भक्त मेरे पास आते हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

मैं अव्यक्त अर्थात् अस्पष्ट हूं, पर कम बुद्धिवाले मनुष्य मुझे देहधारी समझते हैं। मेरी नित्य और अत्युत्तम स्थिति वे नही जानते।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५

मेरी चारों ओर योगमायाका परदा है, इसलिये मैं सबको प्रकट दिखायी नहीं देता। यह जगत् मोहमे पडा है, इसलिये वह नही जानता कि, मै अनादि और अव्यक्त हूं।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

हे अर्जुन, जो इसके पहले हो गये, जो इस समय हैं, और जो आगे होंगे, उन जीवोंको मैं जानता हू, पर वे मुझे नही जानते।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥२७॥

हे परन्तप भारत, इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न होनेवाले सुख दुःखोंके कारण जीव मूढसे हो जाते हैं और इसलिये इस संसार-की मायामें ही फंस जाते हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

पर पुण्यकर्मों से जिनके पाप नष्ट हो गये हैं ऐसे मनुष्य सुखदुःखादिके मोहसे छुटकारा पाकर दृढ निश्चयके साथ मेरी ही आराधना करते हैं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्मचाखिलम् २९॥

बुढापा और मृत्युसे बचनेके लिये जो मेरा आश्रय ग्रहण कर दीर्घ उद्योग करते हैं वे वह ब्रह्म जानते हैं, समस्त अध्यात्म जानते हैं, और सब कर्म जानते हैं ।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

जो मुझमें चित्त लगाकर यह जानते हैं कि, मैं अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञसे युक्त हूं, उनको देहत्याग करनेके समय भी मेरा स्मरण होता है ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूप० ज्ञानयोगो
नाम सप्तमोऽध्याय ।

अथ अष्टम अध्याय

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

हे पुरुषोत्तम, वह ब्रह्म किसे कहते हैं, अध्यात्मका अर्थ क्या है, कर्म्मका क्या अर्थ है, अधिभूत किसको कहते हैं और अधिदैव क्या है?

अधियज्ञ कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

हे मधुसूदन, इस देहमें अधियज्ञ कैसा होता है और कौन होता है? और जिसने अपने चित्तको वश किया उसे अन्त समय तुम्हारा स्मरण कैसे होता है?

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

ब्रह्म परम अक्षरको कहते हैं, अर्थात् सबसे श्रेष्ठ और कभी विनाश न होनेवालेको ब्रह्म कहते हैं। उसीका जो भाव जीवरूपसे प्रकट होता है उसे अध्यात्म कहते हैं। चराचरकी जिससे उत्पत्ति और वृद्धि होती है उस आचरणको कर्म्म कहते हैं।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

सब भूतोंमें मिला हुआ जो नश्वरभाव अर्थात् नाश होनेवाला शरीर है, वही अधिभूत है। विश्वरूप जो विराट् पुरुष है,

वही अधिदैवत अर्थात् सबसे श्रेष्ठ दैवत है। और हे पुरुषश्रेष्ठ, इस देहमें मैं ही अधियज्ञ अर्थात् सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ हूँ।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

और जो अन्त समय मेरा स्मरण करके देह त्याग करता है वह मेरे स्वरूपमें मिल जाता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित ॥६॥

केवल यही नहीं, पर, हे कौन्तेय, जिसके चित्तपर जिस वस्तुका दृढ संस्कार होता है, उसको मरण समय उसी वस्तुकी याद आती है और वह उसी वस्तुसे जा मिलता है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशय ॥७॥

इसलिये सब समय मन और बुद्धि मुझमें लगाकर मेरा ध्यान करो और युद्ध करो, ऐसा करनेसे तुम भी निस्सन्देह मुझमे मिल जाओगे।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

हे पार्थ, जो मनुष्य अपने चित्तको इधर उधर कही भटकने न देकर, अभ्याससे उसे एकाग्रकर, परम प्रकाशमय पुरुषका चिन्तन करता है, वह उसमें मिल जाता है।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् १०

जो अन्त समय स्थिर मन कर, भक्तियुक्त होकर, योगबलसे दोनो भौंहोंके मध्य भागमे प्राणोंको स्थिर करता है, और सर्वज्ञ, अनादि सबके सञ्चालक, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, सबके पालन करनेवाले, अचिन्त्यरूप, सूर्यको भी प्रकाश देनेवाले, तमोगुणसे दूर रहनेवाले, दिव्य परम पुरुषका सतत चिन्तन करता है, वह देह त्यागके बाद उसीमे मिल जाता है ।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पद संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

जिस प्राप्य पदार्थको वेद जाननेवाले अक्षर कहते हैं, जिसकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचर्य्यसे रहते हैं और ससारसे विरक्त होकर बडे प्रयत्नसे जिसमे मिलते हैं, उस पदार्थका परिचय तुम्हे संक्षेपमें देता हू ।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुद्ध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मन प्राण मास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

जो मनुष्य सब द्वार बन्दकर, मनको आत्मामें स्थिरकर, ललाटके भीतर भौंहोके बीच अपने प्राणवायुको निश्चलकर, योगाभ्यासमें स्थिर होता है,

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

और निर्विकार ब्रह्मके वाचक ॐ इस एकाक्षरका उच्चार तथा मेरा स्मरण करता हुआ देहत्याग करता है वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है ।

अनन्यचेता सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

हे पार्थ, जो अनन्यगति होकर सर्वदा मेरा ही स्मरण करता है, उस सदासन्नोपयुक्त योगीको सहजमें मेरी प्राप्ति होती है ।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

जिनको मैं मिला वे महात्मा हैं, उनको सबसे बडी सिद्धि मिल गयी, उनको दुःखमूल और अशाश्वत जन्म फिर नहीं लेना पडता ।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

हे अर्जुन, ब्रह्मलोकतक जितने लोक हैं उन सबकी उत्पत्ति होती है और लय भी होता है, पर जो मुझमें मिला उसका फिर जन्म नहीं होता ।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

चारों युग जब एक हजार बार होते हैं तब ब्रह्माका एक दिन होता है और बाद उतने ही समयमें ब्रह्माकी एक रात होती है, यह जाननेवाले ही वस्तुतः दिन रातका तत्त्व जानते हैं ।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

ब्रह्माका दिन होनेपर अव्यक्तसे सब व्यक्तियोंका उदय होता है और रातको उसीमे लय हो जाता है ।

भूतग्राम स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

समस्त चराचर वस्तुओंका यह समुदाय इसी प्रकार बार बार दिनको उदय होता है और रातको लय होता है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातन ।
य. स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

पर इनमें जो एक सनातन अव्यक्त है वह उस व्यक्तसे श्रेष्ठ है। चराचरका नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता।

अव्यक्ताऽक्षर इत्युक्तस्तमाहु परमां गतिम् ।
य प्राप्य न निवर्तन्त तद्धाम परमं मम ॥२१॥

अव्यक्तको ही "अक्षर" कहते हैं। उसीका परमगति कहते हैं। वही मेरा परमधाम है, जिसके प्राप्त होनेसे फिर जन्म नही होता।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्त स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

हे पार्थ, जिसमे ये सर्व भूत हैं और जिसकी सामर्थ्यसे यह सब चल रहा है, वह परमपुरुष अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त होता है।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिन ।
प्रयाता यान्ति त कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

हे भरतश्रेष्ठ, किस समय देहत्याग करनेसे योगी फिर वापस नहीं आते, और किस समय त्यागनेसे फिर आते हैं, अब मै वह समय बताता हूं।

अग्निर्ज्योतिरह शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना ॥२४॥

अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणमें प्रयाण करने वाले ब्रह्मविद् ब्रह्ममें मिल जाने हैं।

धूमोरात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

धूम, रात, कृष्णपक्ष और दक्षिणायनमें प्रयाण करनेवाले योगी चन्द्रकी ज्योतिमे मिलते हैं और फिर लौट आते है।

शुक्लकृष्णे गतीह्येते जगत शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुन· ॥२६॥

ससारकी नित्य चलनेवाली शुक्ल और कृष्ण नामकी दो गतिया हैं। विद्वानोका मत है कि, एक गतिसे जानेवालेको लौटना नही पडता और दूसरी गतिसे जानेवालेको लौटना पडता है।

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

योगी इन दोनों गतियोका तत्त्व जानते हैं, इसलिये वे मोहमे नही पडते। इससे, हे अर्जुन, तुम सब समय योगयुक्त रहो।

वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैव दानेषु यत्पुण्यफल प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिद विदित्वा योगी पर स्थानमुपैति चाद्यम् २८

योगी यह सब जानता है, इसलिये वेदोमे, तपोंमें, यज्ञोंमें और दानोंमें जो पुण्यफल बताया गया है, उन सबसे अधिक ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है और सर्वोत्तम आद्यस्थान पाता है।

इति श्रीमद्भगवद्गीता० योगशास्त्रे ऽक्षरब्रह्मयोगो
नामाष्टमोऽध्याय

अथ नवम अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

तुममें ईर्षा नहीं है इसीसे मैं तुम्हें यह अत्यन्त गुह्य शास्त्रीय और अनुभवजन्य ज्ञान बताता हू, इसके जाननेसे तुम्हारा अमङ्गल न होगा ।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

सब विद्याओंमें यह विद्या श्रेष्ठ है और सब गुह्योंमें श्रेष्ठ गुह्य है । यह परम पवित्र है, इसका फल प्रत्यक्ष मिलता है, इससे धर्म्मकी वृद्धि होती है, सुखपूर्वक इसकी साधना हो सकती है और इसका कभी नाश नहीं होता ।

अश्रद्दधाना पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

हे परन्तप, इस धर्म्मपर जिनकी श्रद्धा नहीं है वे मुझे नहीं पाते और इस मृत्युयुक्त संसारमें बार बार लौट आते हैं ।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

मेरा स्वरूप अव्यक्त अर्थात् अस्पष्ट है और मैने इस समय जगत्को प्रकट किया है । मुझमें सर्व भूत हैं पर वे सब मिलकर भी मुझे व्याप्त नहीं कर सकते ।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

इन सब भूतोंने भी मुझे सर्वथा व्याप नहीं रखा है। मेरा यह ईश्वरीय कर्म देखो। मेरी ही आत्मा सब भूतोंका पालन करती है, वही सब भूतोंका आधार है पर उसने उनमें प्रवेश नहीं किया।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायु सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

याद रखो कि, जैसे सर्व्वत्र विचरण करनेवाली महान् वायु समस्त आकाशमे व्याप्त है, उसी प्रकार समस्त भूत मुझमे हैं।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

हे कौंतेय, कल्पके अन्तमे सर्वभूत मेरी प्रकृतिमें आ मिलते हैं और कल्पके प्रारम्भमें मै उन्हें फिर उत्पन्न करता हू।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुन ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवश प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

मैं अपनी प्रकृतिकी प्रेरणा करता हू' और उसके गुणसे स्वभावत· बननेवाले इस चराचर जगत्को फिर फिर उत्पन्न करता हू।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

तोभी, हे धनञ्जय, वे कर्म्म मुझे बद्ध नहीं करते, क्योंकि मै उनमे आसक्त नहीं होता, वर सदा उदासीन रहता हू।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०

हे कौंतेय, समस्त संसारका स्वामी मै हूं और मेरा आश्रय ग्रहणकर प्रकृति चराचर जगतको उत्पन्न करती है, इसीलिये इसका फिर फिर उदय होता है ।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषी तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

मूढ जन मेरा सच्चा स्वरूप नहीं जानते । वे नही जानते कि यद्यपि मैंने मनुष्यरूप धारण किया है तोभी मैं समस्त चराचर का स्वामी हू, इसीसे मेरी अवहेला करते हैं ।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतस ।
राक्षसीमासुरी चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

उनकी आशा व्यर्थ है , उनके कर्म्म व्यर्थ हैं , उनका ज्ञान व्यर्थ है और उनकी बुद्धि विक्षिप्त है । वे उस आसुरी स्वभाव का आश्रय ग्रहण करते हैं, जिससे बुद्धि भ्रान्त हो जाती है ।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवी प्रकृतिमाश्रिता ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

परन्तु, हे पार्थ, जिनका मन शुद्ध है वे ईश्वरभावका आश्रय ग्रहण करते हैं। वे मुझे सर्व भूतोंका मूल और अविनाशी जानकर अनन्यभावसे मेरी पूजा करते हैं ।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रता ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

वे सब समय मेरा भजन करते हैं और दृढ़निश्चयके साथ

भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करते हैं, अपने मनको इधर उधर भटकने नहीं देते ।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

अन्य प्रकारके लोग ज्ञानरूप यज्ञसे मेरी सेवा करते हैं। कोई मुझे और अपनेको एक समझकर, कोई दोनोंमें भेद मानकर और कोई मुझे लीलावतारी समझकर, मेरी ही उपासना करते हैं।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

श्रौत्रयज्ञ मैं हू, स्मार्तयज्ञ मैं हू और पितृयज्ञ मैं हूं। औषध, मन्त्र, होमका साधन घृत, अग्नि और होम मै हू।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च १७॥

इस जगत्का पिता, माता, धारणकर्ता, पितामह, जानने योग्य पदार्थ, ॐकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद मै हू।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवास शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयःस्थानं निधान बीजमव्ययम् ॥१८॥

गति, पालनकर्त्ता, प्रभु, साक्षी, रहनेका स्थान, रक्षक, मित्र, उत्पन्न करनेवाला, संहार करनेवाला, आधार, प्रलयस्थान और अविनाशी बीज मैं हूं।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृत चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

मैं सूर्य्य रूपसे तपता हू, मै वर्षा बन्द करता हूं और मैं ही वर्षा करता हू ; तथा हे अर्जुन, मै ही अमृत हू और मृत्यु भी मैं हूं, उसी प्रकार सत और असत् भी मैं हू ।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् २०

तीनों वेदोका अध्ययनकर यज्ञ करनेवाले, यज्ञमें सोमपान करनेवाले और उससे पापमुक्त हुए याज्ञिक यज्ञके द्वारा मेरी आराधना करते हैं और स्वर्गसुखके लिये प्रार्थना करते हैं। वे इन्द्रलोकमे जाकर अनेक प्रकारके दिव्य सुख पाते हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

उस विशाल स्वर्ग सुखका उपभोग कर, पुण्य समाप्त होनेके बाद वे फिर मृत्युलोकमें आते हैं। जो लोग ये तीनों प्रकारके धर्म करते हैं, पर भोगके उद्देश्यसे कर्म करते हैं, वे स्वर्ग और पृथ्वीमे इसी प्रकार आया जाया करते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

जो मनुष्य सर्वदा मेरा ही चिन्तनकर , स्वस्थ चित्तसे सदा मेरी उपासना करते हैं उनके अभाव दूर करनेकी और उनके पास जो कुछ है उसकी रक्षा करनेकी चिन्ता मै करता हूं।

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

हे कौंतेय, जो लोग श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओंका भजन

करते हैं, वे भी मेरी ही सेवा करते हैं, भेद केवल यह है कि, उनका वह कर्म्म जिस प्रकार का होना चाहिये वैसा नहीं होता।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

क्योंकि समस्त यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु मैं ही हू। पर वे मुझे भलीभाति नही पहचानते इसलिये वे फिर फिर जन्म ग्रहण करते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन्यान्ति पितृव्रता।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

देवताओंकी उपासना करनेवाले देवलोक जाते हैं, पितरोंकी उपासना करनेवाले पितृलोक जाते हैं, भूतोंकी भक्ति करनेवाले भूतोंके पास जाते हैं, और मेरी भक्ति करनेवाले मेरे पास आते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

जो शुद्धचित्त होकर एक पत्ता, एक फूल, एक फल, अथवा केवल जल ही मुझे भक्तिपूर्वक अर्पण करता है, उसका वह भक्तिका उपहार मैं बडे प्रेमसे ग्रहण करता हू।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

हे कौंतेय, तुम जो कुछ खाते हो, करते हो, आहुति देते हो, दान करते हो, वह सब मुझे अर्पण करो।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

ऐसा करनेसे शुभ और अशुभ फलरूप कर्मोंके बन्धनोंसे मुक्त हो जाओगे, और समस्त कर्म्म मुझे अर्पण करनेकी प्रवृत्ति होगी तथा मुक्त होकर मुझसे मिलोगे।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

मैं जीवमात्रको समदृष्टिसे देखता हूं। मुझे न कोई अप्रिय है न प्रिय। पर जिनकी मुझपर भक्ति है वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूं।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

अत्यन्त दुराचार मनुष्य भी यदि अनन्य भावसे मेरा भजन करे, तो उसे साधु ही समझना चाहिये, क्योंकि उसने उत्तम मार्ग ग्रहण किया है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और चिरस्थायी शान्ति पाता है। हे कौंतेय, निश्चय रूपसे जानो कि, मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

हे पार्थ, अत्यन्त नीच वंशमें उत्पन्न मनुष्य हो, स्त्री हो, वैश्य हो, शूद्र हो, जो मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं उनको उत्तम ही गति मिलती है।

किं पुनर्ब्राह्मणा पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

फिर उनके विषयमें तो कहना ही क्या है जो पुण्यात्मा ब्राह्मण हैं, मेरे भक्त हैं अथवा राजर्षि हैं। पर यह देह नाश होनेवाली और असुखकारक है, इसे प्राप्त कर मेरी आराधना करो।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण ॥३४॥

अपना मन मुझे अर्पण करो, मेरी भक्ति करो, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो, चित्तका समाधान कर उसे मुझमें मिलाओ और सर्वथा मुझमे ही आसक्ति रखो, तब मुझसे मिलोगे।

इति श्रीमद्भगवद्गीता० राजविद्याराजगुह्ययोगो
नाम नवमोध्याय
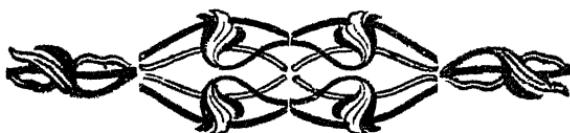
अथ दशम अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वच ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

हे महाबाहो, पुन. मेरा वचन सुनो । तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसलिये जिसमें तुम्हारा हित हो इस इच्छासे मै तुम्हें यह बता रहा हू ।

न मे विदुः सुरगणा' प्रभव न महर्षय. ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वश. ॥२॥

मेरी उत्पत्ति न देवता जानते हैं न महर्षि, क्योंकि, देवताओं और महर्षियोंका आदिकारण मैं हू ।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापै प्रमुच्यते ॥३॥

जो यह जानता है कि, मेरा जन्म कभी नहीं हुआ है, मैं अनादि और सर्वलोकका परमेश्वर हू, वह मोहसे दूर रहता है तथा सब मनुष्योंमे वह पापसे मुक्त हो जाता है ।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोह क्षमा सत्य दम शमः ।
सुखं दु.खं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥

बुद्धि, ज्ञान, मोहहीनता, क्षमा, सत्य, दम शम, सुख, दु.ख, उत्पत्ति, विनाश, भय, अभय, ।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयश ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधा ॥५॥

अहिंसा, समता, असन्तोष, तप, दान, यश, अयश, ये भिन्न भिन्न प्रकारके भाव, प्राणी मुझसे ही पाता है।

महर्षय सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमा प्रजाः ॥६॥

सात महर्षि, उनके पहलेके चार महर्षि और सब मनु मेरे मनसे उत्पन्न हुए (उनमें मेरा प्रभाव था), जगत्के समस्त प्राणी उनसे उत्पन्न हुए।

एतां विभूतिं योग च मम यो वेत्ति तत्त्वत ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र सशय ॥७॥

जो मेरी यह विभूति (ईश्वरसूचक पदार्थ), मेरा योग भली भांति जानता है, उसको अवश्य ही सन्देहरहित ज्ञान प्राप्त होता है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विता ॥८॥

यह जानकर कि, मैं सबका उत्पन्न करनेवाला हू—मुझसे सब उत्पन्न हुआ है, ज्ञानी प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्त परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्य तुष्यन्ति रमन्ति च ॥९॥

वे मुझमें चित्त लगाकर, मुझको अपनाकर, एक दूसरेको मेरे सम्बन्धमें समझाते हुए, मेरा भजन करते हुए, सर्वदा सन्तुष्ट रहते हैं और आनन्दसे समय बिताते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददाति बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

चित्तका समाधान कर वे प्रेमसे मेरा भजन करते हैं। मैं उनको ऐसी बुद्धि देता हूं जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

उनपर अनुग्रह करनेके लिये मैं उनकी बुद्धिमें वासकर सुप्रकाशित ज्ञानदीपकी सहायतासे अज्ञानमूलक अन्धकारका नाश करता हूं।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

तुम परब्रह्म हो, श्रेष्ठ पवित्र धाम हो, समस्त ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास तुमको शाश्वत स्वयं प्रकाश पुरुष, आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। तुमने स्वयं भी मुझसे यही कहा है।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

केशव, तुम मुझे जो कुछ बता रहे हो उसको मैं सर्वथा सत्य समझता हूं। हे भगवन्, तुम्हारा स्वरूप वस्तुतः न देव समझ सके हैं न दानव।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

हे पुरुषोत्तम, तुम सब भूतोंके उत्पादक हो, सब भूतोंके सञ्चालक हो, प्रकाशकोंके प्रकाश और सृष्टिके पालक हो। तुम स्वयं ही अपनी शक्तिसे अपनेको जानते हो।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥१६॥

अपनी अद्भुत विभूतियां, जिनके द्वारा तुमने सर्वलोकोंको व्याप रखा है, मुझे भली भांति समझानेकी कृपा करो।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

हे योगिन्, किन किन विभूतियोंके द्वारा तुम्हारा सदा चिन्तन करनेसे मुझे तुम्हारा ज्ञान होगा? हे भगवन्, किस किस वस्तुमें मुझे तुम्हारा चिन्तन करना चाहिये।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

हे जनार्दन कृपया मुझे विस्तारके साथ अपना योग और विभूतियां फिर बताओ, क्योंकि तुम्हारे अमृतके समान वचन सुननेसे मैं तृप्त नहीं होता हूं।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

हे कुरुश्रेष्ठ, ठीक है। मेरा विस्तार तो अनन्त है, इसलिये मैं तुम्हें अपनी मुख्य मुख्य दिव्य विभूतियां ही बताऊंगा।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित ।
अहमादिश्च मध्य च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

हे गुडाकेश, सर्व भूतोंके भीतर रहनेवाली आत्मा मैं ही हूं। सब भूतोंका आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूं।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

मै आदित्योमे विष्णु, तेजस्वियोंमें प्रकाशमान सूर्य हूं, मरुत देवताओंमें मरीचि, नक्षत्रोंमें चंद्र हूं।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

मैं वेदोंमें सामवेद, देवताओंमें इन्द्र, इन्द्रियोंमें मन और प्राणियोंमें चैतन्य हूं।

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

मैं ही रुद्रोंमें शिव, यक्ष और राक्षसोंमें कुबेर, वसुओंमे अग्नि, और पर्वतोंमे मेरु हूं।

पुरोधसां च मुख्य मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागर ॥२४॥

पार्थ, पुरोहितोंमें प्रधान बृहस्पति मैं ही हूं। सेनापतियोंमें स्कन्द और जलाशयोंमें सागर मैं हूं।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

मैं महर्षियोंमें भृगु, भाषामें ॐ यह एक अक्षर, यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थिर पदार्थों में हिमालय हूं ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

मैं वृक्षोंमें अश्वत्थ (पीपल), देवर्षियोंमें नारद, गन्धर्वो मे चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिल मुनि हूं ।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

घोडोंमें मैं क्षीरसागरसे निकला हुआ उच्चैश्रवा हूं, गजेन्द्रोंमें ऐरावत हूं और मनुष्योंमें राजा हूं ।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

मैं शस्त्रोंमें वज्र हूं, गौओंमें कामधेनु हूं, मैं प्रजोत्पादन करनेवाला कामदेव हूं और सर्पोंमें वासुकि हूं ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

नागोंमें मैं शेषनाग हूं, जलचरोंमें मैं वरुण हूं, पितरोंमे मै अर्यमा हूं और शासकोंमें मै यम हूं ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

मै दैत्योंमे प्रह्लाद, गणकोंमे काल, पशुराज सिंह, और पक्षियोंमें गरुड हू ।

पवन· पवतामस्मि राम शस्त्रभृतामहम् ।
झपाणां मकरश्चास्मि श्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

मैं शुद्ध करनेवालोंमें वायु, शस्त्रधारियोंमे रामचन्द्र, मत्स्योंमे मकर और नदियोंमें भागीरथी हू ।

सर्गाण।मादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्य।त्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

हे अर्जुन, मैं सृष्ट पदार्थोंका आदि, मध्य और अन्त हूं, और वक्ताओंकी वाणी मैं हूं ।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्व' सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षय कालो धाताहं विश्वतोमुख ॥३३॥

मैं अक्षरोंमें अकार और समासोंमें द्वन्द्व समास हू। अनन्त काल और सर्वदर्शी विधाता मैं हू ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्ति श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृति क्षमा ॥३४॥

हरण करनेवालोंमें सर्वहर मृत्यु मैं हू। भविष्यत्में होनेवाली वस्तुओंका उद्गम मैं हू। स्त्रियोंमें मैं कीर्त्ति, लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हू ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकर· ॥३५॥

सामगानोंमें मैं बृहत्साम हूं, छन्दोंमें मैं गायत्री छन्द हूं, मासोंमें मैं मार्गशीर्ष हूं, ऋतुओंमें मैं वसन्त हूं।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

छलियोंमें जूआ हूं, तेजस्वियोंमें तेज मैं हूं, जय तथा उद्योग मैं हूं और सात्त्विकोंमें सत्त्व हूं।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

यादवोंमें मैं वासुदेव हूं, पाण्डवोंमें मैं धनञ्जय हूं, मुनियोंमें मैं व्यास हूं और कवियोंमें शुक्राचार्य हूं।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

दमन करनेवालोंमें मैं दण्ड हूं, जय चाहनेवालोंकी नीति मैं हूं, गुह्य पदार्थोंमें मैं मौन हूं और ज्ञानियोंका ज्ञान मैं हूं।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

और, हे अर्जुन, भूत मात्रका जो कुछ बीज है, वह मैं हूं। मेरे अतिरिक्त चराचर भूत कुछ भी नहीं है।

नान्तोऽस्मि मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

हे परन्तप, मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है। यह जो

मैंने विस्तार किया है वह केवल विभूतियोंका सूचक है—मार्ग दिखानेवाला है।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽंशसम्भवम् ॥४१॥

तुम इतना जान रखो कि, जिन पदार्थों में ऐश्वर्य्य, शोभा अथवा प्रभाव है वे सब मेरे ही तेजके अंशसे उत्पन्न हुए हैं।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

हे अर्जुन, और अधिक कहना व्यर्थ है। तुम इतना ही जान लो कि, एक अंशसे मै इस समस्त जगत्में व्याप्त हूं।

इति श्रीमद्भगवद्गीता० विभूतियोगो नाम दशमोऽध्याय ॥

अथ एकादश अध्याय

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

मुझपर अनुग्रह करनेके लिये तुमने मुझे अध्यात्म नामक जो परम गुह्य बताया, उससे मेरा समस्त मोह दूर हो गया ।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

हे कमलनेत्र, चराचरकी उत्पत्ति और नाशका कारण और तुम्हारा अक्षय माहात्म्य भी मैंने तुम्हारे ही मुखसे विस्तारपूर्वक सुना ।

एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

हे पुरुषोत्तम, हे परमेश्वर, तुमने अभी अपना जैसा वर्णन किया उस प्रकारका तुम्हारा रूप देखनेकी मेरी बड़ी इच्छा है ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

हे योगेश्वर, हे प्रभो, यदि मुझे वह रूप दिखाना तुम सम्भव समझते हो, तो मुझे अपना वह अव्यय रूप दिखाओ ।

श्रीकृष्ण उवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

हे पार्थ, नाना प्रकारके, नाना वर्णोंके और नाना आकारोंके मेरे शत शत सहस्र सहस्र दिव्य रूप देखो ।

पश्यादित्यान्वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

हे भारत, आदित्य देखो, वसु देखो, रुद्र देखो, अश्विनीकुमार देखो, मरुद्गण देखो, और पहले कभी न देखे थे ऐसे आश्चर्य देखो ।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

हे गुडाकेश, चराचरसहित यह जगत् देखो तथा और जो कुछ देखना चाहते हो वह आज यहां मेरी देहमें देख लो ।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

पर इन नेत्रोंसे मुझे देख न सकोगे । मैं तुम्हें दिव्य नेत्र देता हूं, उनसे मेरा ईश्वरीय योग देखो ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

राजन्, महायोगेश्वर कृष्णने यह कहकर अर्जुनको अपना परमश्रेष्ठ ईश्वरीय रूप दिखाया ।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

उसे अनेक मुख और अनेक नेत्र थे और उसमें देखने योग्य अद्भुत पदार्थ अनेक थे। उसपर अनेक सुप्रकाशित अलङ्कार थे और अनेकानेक दिव्य शस्त्र उसने ग्रहण किये थे।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

देहपर सुप्रकाशित फूल और वस्त्र थे। शरीरमें दिव्य सुवासित पदार्थ लगाये थे। वह रूप अत्यन्त आश्चर्यमय और व्याप्त था। उसको सब ओर मुख थे।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

आकाशमें यदि सहस्र सूर्यकी प्रभा एक साथ हो, तो वह कुछ कुछ उस महात्माकी प्रभाके समान होगी।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

उस समय अर्जुनने देवाधिदेवके शरीरमें समस्त जगत् एकत्र देखा और उसमें भी अनेक विभाग देखे।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

तब धनञ्जय आश्चर्यसे चकित हो गया, उसका शरीर

गमाञ्चित हुआ। उसने सिर झुकाकर और हाथ जोड़कर भग-वानसे कहा—

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसघान् ।
ब्रह्माणमीश कमलासनस्थमृर्षीश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५॥

तुम्हारी देहमें मै सब देवताओंको देखता हूं, भिन्न भिन्न प्रकारके प्राणियोंके समुदाय देखता हूं। कमलासनपर बैठे हुए सब देवताओंके ईश ब्रह्मदेवको देखता हूं। सब ऋषियोंको देखता हूं और दिव्य सर्प भी देखता हूं।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम्॥ १६॥

हे विश्वेश्वर, तुम्हारे अनेक बाहु, अनेक उदर, अनेक मुख, और अनेक नेत्र हैं। तुम्हारा रूप अनन्त है। तुम्हारा अन्त, मध्य और आदि दिखायी नही देता है। समस्त विश्वमय तुम्हारा रूप दिखायी देता है।

किरीटिनं गदिन चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् १७

तुमने किरीट गदा और चक्र ग्रहण किया है। तुम तेजकी राशि हो—तुम्हारी प्रभा सर्वत्र व्याप्त रही है। सूर्य और अग्निके समान प्रकाश तुम्हारे चारो ओर है, इसलिये तुम्हारी ओर मुझसे देखा भी नहीं जाता। तुम अगम्य हो।

त्वमक्षर परम वेदितव्य त्वमस्य विश्वस्य पर निधानम् ।
त्वमव्यय शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ १८॥

परब्रह्म तुम, जाननेकी वस्तु तुम, विश्वका महा आधार तुम, नित्य तुम, शाश्वत धर्मके रक्षक तुम, सनातन तुम और पुरुषोत्तम भी मुझे तुम्हीं मालूम होते हो।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥१९॥

तुमको न आदि है, न मध्य और न अन्त, तुम अनन्त शक्ति, अनन्त हस्त, चन्द्र सूर्य तुम्हारे नेत्र, तुम्हारे मुखसे अग्नि निकल रही है, समस्त विश्वको तुम अपने तेजसे तपा रहे हो, इस प्रकारका तुम्हारा रूप मैं देख रहा हूं।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥२०॥

हे महात्मन्, आकाश और पृथ्वीके बीचका अन्तर तथा समस्त दिशाएं अकेले ही तुमने व्याप रखी हैं। तुम्हारा ऐसा अद्भुत उग्र रूप देखकर समस्त त्रैलोक्य कष्ट पा रहा है।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥

यह देखो, देवताओंके समूह तुम्हारी शरण आ रहे हैं, उनमें कितने ही भयभीत होकर हाथ जोड़ तुम्हारी प्रार्थना कर रहे हैं, महर्षियों और सिद्धोंका समूह "स्वस्ति" कहकर नाना प्रकारसे तुम्हारी प्रशंसा कर रहा है।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥२२॥

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनी, मरुत, पितर,

गन्धर्व, यक्ष, असुर, सिद्ध—इनके संघ विस्मित हो तुम्हारी ओर टकटकी लगाकर देख रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥२३॥

हे महाबाहो, अनेक मुख, अनेक नेत्र, अनेक हस्त, अनेक जांघ, अनेक पैर, अनेक पेट और अनेक कराल दन्त युक्त तुम्हारा यह विशाल रूप देखकर सब लोग अत्यन्त भयभीत हो रहे है और मैं भी दुःखित हो रहा हूं।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो

आकाशतक पहुंचे हुए, प्रकाशमान अनेक वर्णों के, फैलाये हुए मुखके, जलनेवाले विशाल नेत्रयुक्त तुमको देखकर हे विष्णो, मेरा जी घबरा रहा है। मुझसे धीरज धरा नही जाता और चित्त शान्त नही होता।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास॥२५॥

हे देवाधिदेव, हे जगन्निवास, प्रलयकालकी आगके समान जलनेवाले और भयङ्कर दाढ़ोंसे डरावने बने हुए तुम्हारे मुख देखकर मै दिशा तक पहचाननेमे असमर्थ हो गया हू और मुझे सुख नही होता है, मुझपर अब दया करो।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥२६॥

धृतराष्ट्रके ये सब पुत्र और राजाओंके ये समुदाय, भीष्म, द्रोण, कर्ण और हमारी ओरके मुख्य मुख्य योद्धा,

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

डरावनी दाढ़ोंसे युक्त तुम्हारे मुखोंमें बड़ी शीघ्रतासे प्रवेश कर रहे हैं। कितने ही तुम्हारे दांतोंके बीच फंस गये हैं और दिखायी दे रहा है कि उनके मस्तक चूर हो रहे हैं।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥

जैसे नदियोंके बड़े बड़े प्रवाह समुद्रकी ओर जाते हैं, उसी प्रकार मृत्युलोकके ये वीर तुम्हारे प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः २९

जैसे पतंग मरनेके लिये प्रदीप्त अग्निमें बड़े वेगसे प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये लोग भी नष्ट होनेके लिये बड़ी शीघ्रतासे तुम्हारे मुखमें प्रवेश कर रहे हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ३०

हे विष्णो, जिस मुखसे अग्निकी ज्वालाएं निकल रही हैं उसमें तुम सब लोगोंको निगल जाते हो और बार बार जीभ चाट रहे हो। तुम्हारी उग्र प्रभा समस्त जगत्में व्याप्त है और प्रखर तेजसे उसको जला रही है।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥

हे देववर, यह भयङ्कर रूपवाले तुम कौन हो ? कृपया मुझे बताओ, मैं तुम्हे नमस्कार करता हू, मुझपर प्रसन्न हो। आदि पुरुष तुमको जाननेकी मेरी इच्छा है। तुम्हारा उद्देश्य मेरी समझमें नहीं आता है।

श्रीकृष्ण उवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताःप्रत्यनीकेषुयोधाः

संसारका नाश करनेवाला मैं उग्र काल हू। प्राणियोंका संहार करनेके लिये आया हूं। तुमने युद्ध न किया तोभी इन सेनाओंके ये वीर जीवित न रह सकेंगे।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्य समृद्धम्
मयैवैते निहता पूर्वमेव निमित्तमात्र भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

इसलिये तुम उठो, शत्रुका सहारकर यश प्राप्त करो और उत्तम राज्य भोग करो। हे सव्यसाची अर्जुन, इनको तो मैंने पहले ही मार रखा है, तुम केवल निमित्तके लिये आगे हो।

द्रोणं च भीष्म च जयद्रथं च कर्ण तथान्यानपि योधवीरान
मया हतांस्त्व जहि मा व्यथिष्ठा युद्धचस्व जेतासि रणे सपत्नान्

भीष्म, द्रोण, कर्ण, जयद्रथ तथा अन्यान्य योधाओंको मैंने पहले ही मारा है; इनको तुम मारो, खेद मत करो, युद्ध करो, शत्रुपर तुम्हारी विजय होगी।

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृतांजलिर्वेपमान· किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गद भीतभीत· प्रणम्य ३५

केशवके ये वाक्य सुनकर अर्जुन हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और थरथर कापने लगा, और सिर नमाकर, फिर फिर नमस्कार कर डरते डरते गद्गदकण्ठसे बोला।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥

हे हृषीकेश, तुम्हारे प्रभावका वर्णन करनेसे समस्त जगत् आनन्दित और प्रसन्न होता है, यह उचित ही है। उसी प्रकार राक्षस भयभीत होकर चारों ओर भागते हैं और सिद्ध तुमको नमस्कार करते हैं, यह भी योग्य है।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥३७॥

हे महात्मन्, हे अनन्त, हे देवाधिदेव, जगन्निवास, तुम ब्रह्मासे भी श्रेष्ठ हो, तुमको वे न नमस्कार करें, यह कैसे हो सकता है? व्यक्त तुम हो और अव्यक्त भी तुम हो, तथा इन दोनोंसे परे अक्षर भी तुम ही हो।

त्वमादिदेव पुरुष पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया तत विश्वमनन्तरूपम्॥३८॥

हे अनन्तरूप, तुम आदिदेव हो, पुराणपुरुष हो, विश्वका लयस्थान तुम हो, ज्ञाता और जाननेयोग्य वस्तु तुम हो, परमधाम तुम हो, विश्वको उत्पन्न करनेवाले तुम हो।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुण शशांक प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्व पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥३९

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता तुम हो, तुमको हजार बार नमस्कार है, फिर फिर नमस्कार है।

नम पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ४०

हे सर्वरूप, तुम्हारी सामर्थ्य अनन्त है, तुम्हारा पराक्रम अनन्त है, तुम सब विश्वमें व्याप्त हो, इसीसे तुम्हारा नाम सर्व है। तुमको सामनेसे नमस्कार है, पीछेसे नमस्कार है और सब दिशाओंसे नमस्कार है।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

तुमको अपना लगोटिया यार समझकर और तुम्हारी महिमा न जाननेसे अथवा प्रेमसे मैंने जो तुम्हें बडी ढिठाईसे "हे कृष्ण, हे सखा" कहा था,

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

उसी प्रकार, हे अच्युत, यद्यपि तुम्हारा अन्त नहीं मालूम होता, तो भी खेलते, सोते, बैठते और खाते समय, एकान्तमें या औरोंके सामने केवल विनोदके लिये जो मैंने तुम्हारा अपमान किया था, उसके लिये मुझे क्षमा करो, मैं तुमसे प्रार्थना करता हूं।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोस्त्यभ्यधिकः कुतोन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव

तुम्हारे प्रभावकी उपमा नहीं है। तुम इस चराचर जगतके पिता हो, पूज्य हो, और गुरुसे भी श्रेष्ठ गुरु हो। तुम्हारी बराबरी कर सके ऐसा तीनों लोकोंमें कोई नही है, फिर तुमसे अधिक कौन हो सकता है? ॥ ४३ ॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ॥
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ४४

तस्मात्, हे स्तुत्य ईश, मैं शरीर झुकाकर, वन्दना कर प्रार्थना करता हू कि मुझपर कृपा करो। हे देव, पिता पुत्रको, मित्र मित्रको और प्रियजन प्रियजनको क्षमा करता है, उसी प्रकार कृपया मुझे क्षमा करो।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

तुम्हारा यह रूप, जो कभी न देखा था, वह देखकर आनन्द भी हुआ और भयसे मैं घबरा भी गया हू। इसलिये, हे भगवन्, अब मुझे वही अपना नित्यका रूप दिखाओ। हे देवाधिदेव, जगन्निवास, दया करो।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्त्ते ॥४६॥

हे सहस्रबाहो, हे विश्वमूर्त्ते, तुम किरीट पहनकर, हाथमें गदा और चक्र लेकर वैसे ही चतुर्भुज बनो जैसे पहले थे। मैं तुम्हारा ही रूप देखना चाहता हू।

श्रीकृष्ण उवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ४७

हे अर्जुन, मैंने प्रसन्न होकर योगबलसे अपना तेजोमय, अनन्त, आदिका परम विश्वरूप तुमको दिखाया। यह रूप तुम्हारे सिवा पहले और किसीने नहीं देखा था।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

हे कुरुवर, मेरा यह रूप इस नरलोकमें अकेले तुमने ही देखा—और कोई नहीं देख सकता। वेदपाठ, यज्ञानुष्ठान विद्याध्ययन, दान, सकाम कर्म अथवा घोर तपस्यासे यदि कोई यह रूप देखनेका प्रयत्न करेगा, तो वह कभी सफल नहीं होगा।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

तो भी मेरा यह घोर रूप देखकर तुम डरो मत, घबराओ मत। भय त्याग कर संतुष्टचित्तसे मेरा वही रूप फिर अच्छी तरह देखो।

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ५०

वासुदेवने अर्जुनसे इस प्रकार कहकर अपना स्वरूप अर्जुनको दिखाया और उसे डरा हुआ देखकर सौम्यरूप धारण किये हुए उस महात्माने उसे धीरज दिलाया।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

हे जनार्दन, तुम्हारा यह सौम्य मानवरूप देखकर मैं सावधान हुआ हूं, मेरा मन फिर पहलेके जैसा स्थिर हुआ है।

श्रीकृष्ण उवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥५२॥

तुमने मेरा जो रूप अभी देखा वह सहसा दिखायी नहीं दे सकता, देवता भी सर्वदा यह रूप देखनेको उत्सुक रहते हैं।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

तुमको मेरा जैसा दर्शन हुआ है, वैसा वेदाध्ययनसे, तपसे, दानसे अथवा यज्ञसे भी किसी दूसरेको नहीं हो सकता।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥५४॥

परन्तु, हे परन्तप अर्जुन, केवल अनन्यभक्तिसे मुझे चाहे जो इस प्रकार जान सकता है, प्रत्यक्ष देख सकता है और मुझमें मिल जा सकता ।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

और हे, पाण्डव, मुझपर विश्वासकर जो मनुष्य कर्म करता है, जो मुझे ही परम पुरुषार्थ समझता है, मेरी ही जो भक्ति करता है, जो और किसी प्राणीसे द्वेष नहीं करता, वह मुझसे मिल जाता है।

इति श्रीमद्भगवद्गीता० विश्वरूपदर्शनयोगो

नामैकादशोऽध्यायः

अथ द्वादश अध्याय

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

इस प्रकारके तुम्हारे सगुण रूपमें चित्त स्थिरकर जो तुम्हारी उपासना करते हैं और जो अव्यक्त ब्रह्मकी उपासना करते हैं, इन दोनों प्रकारके भक्तोंमें श्रेष्ठ योगी कौन है ?

श्रीकृष्ण उवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

जो मुझमें चित्त स्थिर रखकर बडी श्रद्धासे मेरा भजन करते हैं, उनको मैं सबसे श्रेष्ठ योगी समझता हूं ।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

पर, जो इन्द्रियोंका संयम कर, सर्वत्र समदृष्टि रखकर प्राणी मात्रके हितमें लगे रहते हैं, और अविनाशी ब्रह्मकी जिसके बारेमें नहीं कहा जा सकता कि यह अमुक है, जो अव्यक्त है, जो सर्वत्र व्याप्त है, जो चिन्तासे परे है, जो प्रपचमें रहकर भी

स्थिर है, जो अचल है और जो नित्य है—उस ब्रह्मकी जो उपासना करते हैं वे भी मुझको ही प्राप्त करते हैं।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

अव्यक्तमें जिनका चित्त आसक्त हुआ है उनको कष्ट अधिक होता है, क्योंकि देहवाले प्राणीके लिये अव्यक्त गतिका ज्ञान कर लेना बड़े ही कष्टका काम है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

पर जो अपने सब कर्म्म मुझे अर्पणकर, मुझपर भरोसा रखकर, अनन्य भक्तिसे मेरा ध्यान करते हैं और मेरी सेवा करते हैं,

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

उनका चित्त मुझमें बधा रहता है। इसलिये, हे पार्थ, मैं मृत्युयुक्त संसारसागरसे उनका शीघ्र ही उद्धार करता हूं।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

मुझमें ही मन रखो, मुझमें ही बुद्धि रखो इससे देहान्तके बाद तुम निश्चय मुझमें ही वास करोगे, इसमें सन्देह नहीं।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥९॥

यदि मुझमें चित्त स्थिर रखना इस समय सम्भव न हो तो,

हे धनञ्जय, मुझे प्राप्त कर लेनेकी इच्छासे इसके लिये फिर फिर प्रयत्न करो—अभ्यास करो।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

यदि अभ्यास करनेकी भी सामर्थ्य न हो तो मेरे उद्देश्यसे व्रतादि ही करो। यदि मेरे लिये तुम कर्म करो, तो भी तुम्हें मुक्ति मिलेगी।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

और यह करनेमें भी यदि असमर्थ हो, तो मनका संयम कर अनन्यभावसे मेरी शरण आओ और फलकी आशा छोड़कर कर्म्म करो।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

क्योंकि, अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी कर्म्मका फलत्याग श्रेष्ठ है। त्यागसे तुरन्त शांति प्राप्त होती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

जो किसीसे द्वेष नहीं करता, जो भूतमात्रका मित्र है, जो दयाशील है, जिसमें "मेरा और मैं"—भाव नहीं है, जिसे सुख दुःख दोनों समान हैं, क्षमावान् है,

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

जो सदा सन्तुष्ट, स्थिरचित्त, संयमित मन, दृढ निश्चय है और जिसने मन और बुद्धि मुझे अर्पण कर दी है, इस प्रकारका मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५॥

जिससे न लोगोंको भय है, न लोगोंसे जो भीत होता है, हर्ष, दूसरोंका सुख देखकर खेद, भय और विषाद, इनसे जो मुक्त हो गया है वह मुझे प्रिय है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६॥

जो कुछ मिले उसीमें सन्तुष्ट, पवित्र, आलस्यहीन, पक्षपातहीन, दुःखरहित, और फलकी आशा छोड़कर कर्म करनेवाला भक्त मुझे प्रिय है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७॥

जो आनन्दसे फूलता नही, दुःखसे उकताता नही, इष्ट पदार्थके नाशसे शोक नही करता, किसीका लोभ नही करता, जिसने शुभ और अशुभ दानोंका त्याग किया है, जो भक्तिमान् है, वह मुझे प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ १८॥

जो शत्रु और मित्रको समान समझता है, मान और अपमानको समान समझता है, शीत-ऊष्ण और सुख दुःखको

समान समझना है, और सब प्रकारका संग जिसने त्याग दिया है, वह मुझे प्रिय है।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केन चित् ।
अनिकेत स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

जिसके लिये निन्दा और स्तुति समान है, जो बकवाद नही करता, सदा सन्तुष्ट रहता है, जो यह नही समझता कि यह घर मेरा है, जिसका चित्त स्थिर है, जो भक्तिमान् है, वह मुझे प्रिय है।

ये तु धर्म्मामृतमिद यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

पर जो मुझमें श्रद्धा रखकर और मुझे ही सर्वस्व मानकर इस अमृतके समान हितकारक धर्म्मका आचरण मेरे कहनेके अनुसार भक्तिपूर्वक करते हैं, वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

इति श्रीमद्भगवद्गीता० भक्तियोगो नाम
द्वादशोऽध्याय.।

अथ त्रयोदश अध्याय

अर्जुन उवाच

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥

हे केशव, मैं जानना चाहता हूं कि, प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, तथा ज्ञान और ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य किन्हे कहते हैं * ॥

श्रीकृष्ण उवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥

हे कुंतीपुत्र ! इस शरीरको क्षेत्र † (खेत) कहते हैं। इस शरीरको जाननेवालेको, अर्थात् जो कहता है कि, यह मेरा है उसको, क्षेत्रज्ञ (खेतिहर) कहते हैं, यह तत्त्वज्ञ पण्डितोंका मत है।

---

* यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

† "क्षेत्र शब्दका अर्थ अच्छी तरह समझे बिना, अगला भाग समझना कठिन है। शङ्कराचार्यने क्षेत्रकी व्याख्या इस प्रकार की है — "क्षतत्राणात् क्षयात् क्षरणात् क्षेत्रवद्वास्मिन्कर्मफलनिर्वृत्तेः क्षेत्रमिति। अर्थात् (१) क्षतसे (नाशसे) — [illegible] (जीवकी) रक्षा करनेवाला, (२) जिसका क्षय अर्थात् नाश होता है — [illegible] (३) जिसका सतत क्षरण होता है अर्थात् जो बराबर घिसता है, (४) बीज बोनेसे जैसे उसका फल क्षेत्र वा खेतमें होता है उसी प्रकार भले बुरे कर्मोंकी फलोत्पत्ति जिसमें होती है, वह देह। इसको जाननेवाला "क्षेत्रज्ञ"। खेत, [illegible] आदि शब्दोंसे इतने अर्थ व्यक्त नहीं हो सकते इस लिए टीकामें भी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ शब्दोंका ही प्रयोग किया गया है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मत मम ॥२॥

हे भारत! प्रत्येक क्षेत्रमें क्षेत्रज्ञ मैं ही हूं। क्षेत्रसे क्षेत्रज्ञ भिन्न है, इस मतसे मैं सहमत हूं ।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

वह क्षेत्र किस प्रकारका है, उसमें कौन कौन विकार होते हैं, उसकी उत्पत्ति कैसे हुई, वह कैसा है, और क्षेत्रज्ञका क्या प्रभाव है, इत्यादि बातें मैं थोडेमें बताता हू, सुनो ।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितै ॥४॥

बहुतसे ऋषियोने बहुत प्रकारके छन्दोंमें भिन्न भिन्न प्रकारसे इसका वर्णन किया है और सन्देहरहित तथा युक्तिपूर्ण ब्रह्मप्रतिपादक सूत्रों और पदोद्वारा भी क्षेत्र क्षेत्रज्ञ सम्बन्धी ज्ञानका वर्णन हुआ है ।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचरा ॥५॥
इच्छा द्वेष' सुख दु ख सघातश्चेतना धृति' ।
एतत्क्षेत्र समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

पञ्च महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, ग्यारह इन्द्रिया, और इन्द्रियोंके पाच विषय तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, चेतना और धृति इनका समूह—संक्षेपमें क्षेत्र और क्षेत्रके ये ही विकार हैं ।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रह' ॥७॥

अभिमानहीनता दम्भहीनता, अहिंसा, सहनशीलता, सरलता, गुरुसेवा, पवित्रता, स्थिरता और मनका संयम,

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्ति, "मैं" पनका अभाव, और जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग तथा दुःख—इनको दोषयुक्त समझना ।

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

पुत्र, स्त्री, गृह इत्यादिमें अत्यन्त आसक्त न होना, उनके सुख-दुःखपर अति विचार न करना, इष्ट या अनिष्ट चाहे जैसी घटना हो जाय, पर चित्तको शान्त रखना, ।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

मुझमे अनन्यभावयुक्त एकनिष्ठ भक्ति, जहां चित्त प्रसन्न (शान्त) रहे वहां रहनेकी इच्छा, साधारण लोगोंमें रहनेसे विराग,

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

सदा स्मरण रखना कि मैं परमात्माका ही अंश हूं, ज्ञान-प्राप्तिके उद्देश्य मोक्षको सबसे श्रेष्ठ मानना—इसे ही ज्ञान कहते हैं—इससे जो भिन्न है वह अज्ञान है ।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

अब मैं बताता हूं कि, 'ज्ञेय' (अर्थात् जानने योग्य) किसे कहते हैं। जिसके जाननेसे मोक्ष मिलता है, जिसका आदि नही, जो अत्यन्त बडा है, जिसके बारेमें कोई भले ही कहे कि वह नहीं है, पर जिसका न होना कभी सम्भव ही नही है, (वही ज्ञेय है)।

सर्वतः पाणिपाद तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

जिसे सर्व्वत्र हाथ हैं,सर्व्वत्र पैर, सर्व्वत्र नेत्र,सर्व्वत्र मस्तक, सर्व्वत्र मुख और सर्व्वत्र कान हैं, और त्रैलोक्यमें जो सबमें व्याप रहा है (वही ज्ञेय है)।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुण गुणभोक्तृ च ॥१४॥

जिसमें सब इन्द्रियोंके गुण होनेका भास होता है पर जिसे कोई इन्द्रिय नहीं है, जिसको किसीसे आसक्ति नही है पर जो सबका आधार है, जो स्वयम् निर्गुण होनेपर भी गुणोका आश्रय है।

बहिरन्तश्च भूतानामचर चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

जो सब भूतोंके बाहर भीतर है, तोभी चर भी है और अचर भी। जो अत्यन्त छोटा होनेके कारण इन्द्रियगोचर नही होता, जो दूर भी है और निकट भी है,

अविभक्त च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेय ग्रसिष्णु प्रभाविष्णु च ॥१६॥

जिसके विभाग नहीं होते,पर जो भिन्न भिन्न भूतोंमें विभक्त-के समान रहता है, सब भूतोंका पालन करनेवाला, उनको नष्ट करनेवाला और जो फिर उनके रूपमें होनेवाला, वही ज्ञेय है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमस परमुच्यते ।
ज्ञान ज्ञेय ज्ञानगम्य हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥१७॥

चन्द्रसूर्य्यादि ज्योतियोंको वही प्रकाश देता है, वह अन्धकारसे दूर रहनेवाला कहाता है। जाननेका साधन वही है, जाननेका पदार्थ वही है, ज्ञानरूप साधनसे प्राप्त भी वही होता है और सबके हृदयोंमें वही वास करता है।

इति क्षेत्र तथा ज्ञान ज्ञेय चोक्त समासत. ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय, संक्षेपमें समझाया। इसके जाननेसे मेरा भक्त मेरे पदके योग्य होता है ।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥१९॥

समस्त जडसमुदायको प्रकृति कहते हैं और चैतन्यको पुरुष कहते हैं, ये दोनों अनादि पदार्थ हैं। विकार (देह इन्द्रिय आदि पदार्थ), और उनके गुण (सत्त्व, रज, तम और इनके सुख-दुःखादि परिणाम) ये प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं।

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुष सुखदु खानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

कहा है कि, कार्य अर्थात् शरीर और कारण अर्थात् सुख-दुःखादिके साधनरूप इन्द्रिया, इन दोनोंको प्रकृति उत्पन्न करती है। "पुरुष" के सम्बन्धमें कहा है कि, वह सुख-दु खादिका भोक्ता अर्थात् अनुभव लेनेवाला है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

उसमें पुरुष रहता है और वह प्रकृतिके गुणोंका उपभोग करता है। इसलिये जिस जिस गुणसे उसका सम्बन्ध होता है उसके अनुसार वह (पुरुष) उच्च-नीच योनिमें जन्म लेता है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

इस देहमें भी उसको (पुरुषको) उपद्रष्टा (निकटसे देखनेवाला), अनुमन्ता (सम्मति देनेवाला), पालन करनेवाला, उपभोग करनेवाला, महेश्वर, परमात्मा और परम पुरुष कहते हैं।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

पुरुषका और गुणयुक्त प्रकृतिका यह भेद जो जानता है, उसकी रहन-सहन चाहे जैसी हो, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

कोई ध्यानसे अपनेमें ही आत्माको देखता है, कोई सांख्ययोगसे देखता है और कोई कर्मयोगसे।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

पर जिन्हें इस प्रकारका ज्ञान नहीं है, वे दूसरोंसे सुनकर ध्यान करते हैं और इस प्रकार सुनकर ध्यान करनेवाले भी मृत्युके पार चले जाते हैं।

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

हे अर्जुन, स्थावर अथवा जङ्गम सब प्रकारके प्राणी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न होते हैं।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यंतं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

परमेश्वर सब भूतोंमें समानरूपसे है, भूतोंके नष्ट होनेपर भी उसका नाश नहीं होता, यह जो जानता है वही ठीक जानता है ।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥२८॥

ईश्वर सर्वत्र समभावसे रहता है, यह जानकर वह अपने हाथसे अपना नाश नहीं कर लेता, और इसलिये उसको उत्तम गति मिलती है ।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

प्रकृतिकी सामर्थ्यसे ही सब कर्म हो रहे हैं, यह जो जानता है और जो अपनेको करनेवाला नहीं समझता, वही ठीक जानता है ।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥३०॥

जब वह भिन्न भिन्न भूतोंको एक ही ईश्वरमें देखने लगता है तब वह पूर्ण ब्रह्म प्राप्त करता है ।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

परमात्मा अनादि है और निर्गुण है अर्थात् गुणसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिये इसको विकार नहीं होता ।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

जैसे, आकाश सब जगह व्याप्त रहनेपर भी किसीसे मिलता नही उसी प्रकार आत्मा देहमें सर्व्वत्र व्याप्त रहनेपर भी नि:सङ्ग रहती है ।

यथा प्रकाशयन्त्येक: कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

हे भारत, जैसे एक सूर्य्य समस्त जगत्को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ समस्त क्षेत्रको प्रकाशित करता है ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

जो लोग ज्ञानदृष्टिसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका यह भेद समझ जाते हैं और भूतोंकी प्रकृतिके अवलोकनसे मोक्षका उपाय जान लेते हैं, उनको परमपद मिलता है ।

इति श्रीमद्भगवद्गीता० क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्याय ।
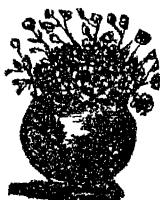
अथ चतुर्दश अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

फिर मैं तुम्हें सब ज्ञानोंसे श्रेष्ठ ज्ञान बताता हूं। इसके जाननेसे ही सब मुनियोंने देहबंधनसे छुटकर परम सिद्धि प्राप्त की है।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

इस ज्ञानकी सहायतासे जिन्होंने मुझसे सायुज्य प्राप्त कर लिया है, उनका जन्म सृष्टिके प्रारम्भमें भी नहीं होता और प्रलयके समय भी उनको कष्ट नहीं होता।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

हे भारत, महत् ब्रह्म मेरा गर्भ रखनेका स्थान अर्थात् मेरी प्रकृति है। उसमें मैं गर्भ रखता हूं और उससे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

हे कौंतेय, सर्व गर्भोंमें जो शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबका उत्पत्तिस्थान महत् ब्रह्म है और उसमें बीज रखनेवाला पिता मैं हूँ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले सत्त्व, रज और तम, ये गुण या रस्सियां हैं। हे महाबाहो, यद्यपि देही सब विकारोंसे मुक्त है तो भी देहके साथ रहनेसे ये रस्सियां उस देहीको भी बांध डालती हैं।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥६॥

इनमें सत्त्व निर्मल होनेके कारण प्रकाशक और निरुपद्रव है। यह देहीको सुख और ज्ञानके साथ बांधता है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेनदेहिनम् ॥७॥

रज रञ्जनरूप है। इससे लोभ होता है और प्राप्त पदार्थों में आसक्ति उत्पन्न होती है। हे कौंतेय, यह देहीको कर्मके साथ बांधता है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

हे भारत, समस्त ज्ञानपर जो आवरण है, वही तम है। देही-मात्रको यह मोहमें डालता है। यह भ्रम आलस्य और निद्रासे देहीको बांधता है।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥९॥

हे भारत, सत्त्व सुख उत्पन्न करता है, रज कर्म उत्पन्न करता है, पर यदि तमकी वृद्धि हो, तो वह समस्त ज्ञानको ढककर प्रमाद अर्थात् भ्रम उत्पन्न करता है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

हे भारत, सत्त्वगुण रज और तमको दबाकर बढना चाहता है, रज सत्त्व और तमको दबाकर बढना चाहता है और तम सत्त्व और रजको दबाकर बढना चाहता है ।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

इस देहमें इन्द्रियोंके द्वारा जब ज्ञानका प्रकाश उत्पन्न होता है, तब समझना चाहिये कि सत्त्वगुणकी विशेष वृद्धि हुई है ।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

हे भरतश्रेष्ठ, रजोगुणकी विशेष वृद्धि होनेसे लोभ, कर्ममें प्रवृत्ति, आरम्भ शूरता, अशान्ति और इच्छा उत्पन्न होती है ।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

हे कुरुनन्दन, तमोगुणकी प्रबलता होनेसे अविवेक, उद्योगसे घृणा, भ्रम और मोह उत्पन्न होता है ।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

सत्त्वकी वृद्धिके समय यदि प्राणी मरे, तो वह ज्ञानियोंके प्रकाशमय उत्तम लोकमे जाता है ।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

रजोगुणकी वृद्धिके समय यदि प्राणी मरे, तो उसका जन्म

उन लोगोंमें होता है जो कर्ममें आसक्त हैं। तमोगुणकी वृद्धिके समय यदि प्राणी मरे, तो पशु आदि मूढ योनियोंमे उसका जन्म होता है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥१६॥

कहते हैं, सात्त्विक पुण्य कर्मका फल भी सात्त्विक और कलङ्करहित होता है, पर रजोगुणका फल दुःख और तमोगुणका फल अज्ञान है।

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥१७॥

सत्त्वसे ज्ञान उत्पन्न होता है, रजसे लोभ तथा तमसे प्रमाद मोह और अज्ञान उत्पन्न होता है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥१८॥

सात्त्विक मनुष्यको उत्तम, राजसको मध्यम, और कनिष्ठ गुणी तामसको, नीच गति प्राप्त होती है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥१९॥

जब द्रष्टा विवेकसे जान लेता है कि, जितने कार्य्य होते हैं उनके करनेवाले गुण ही हैं, और यह जानता है कि इन गुणोंके परे भी एक सद्वस्तु है, तब वह मेरे स्वरूपसे मिल जाता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥२०॥

जो देही देहमें उत्पन्न होनेवाले इन तीनों गुणोंके पार चला

जाता है, वह जन्म, मृत्यु, बुढापा और रोगसे मुक्त होकर मोक्ष-पद पाता है।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

प्रभो, यह कैसे जाना जाता है कि अमुक मनुष्य तीनों गुणोंके पार चला गया है?—उसका वर्त्ताव कैसा होता है? किन उपायोंसे वह त्रिगुणातीत होता है?

श्रीकृष्ण उवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥२२॥

हे पाण्डव, प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहके प्राप्त होनेसे जो दुःखित नहीं होता तथा इनके चले जानेसे फिर पानेकी इच्छा नहीं करता।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ॥२३॥

उदासीन मनुष्यके समान जो सुख दुःखको समान मानता है, और गुणोंके कार्य्य होते ही रहते हैं, यह जानकर जो निश्चिन्त रहता है और कभी विचलित नहीं होता,।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

जिसको सुख दुःख, मिट्टीका ढेला, पत्थर और सोना, प्रिय-अप्रिय तथा निन्दा और स्तुति समान हैं, जो धीर और शान्त रहता है।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयो ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीत स उच्यते ॥२५॥

जिसको मान अपमान तथा मित्र और शत्रु समान हैं, जो बखेडोंमें नही पड़ता, उसे गुणातीत कहते हैं ।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

जो एकनिष्ठ होकर भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करता है वह निश्चय ही इन गुणोंको भली भाति जीतता है और ब्रह्मभावके योग्य होता है ।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

क्योंकि, ब्रह्मका, अविकृत मोक्षका, शाश्वत धर्मका और अखण्ड सुखका भाण्डार मैं हूं ।

इति श्रीमद्भगवद्गीता० गुणत्रय विभागयोगो नाम
चतुर्दशोऽध्याय ।

अथ पञ्चदश अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

संसार अश्वत्थ (बड) वृक्ष है, इसकी पुराण पुरुषरूप जड ऊपर है, चराचररूप इसकी शाखाएं नीचे लटक रही हैं, वेद इसके पत्ते हैं, यह जो जानता है वही वेदोंका जाननेवाला है।

("अ" अर्थात् "नहीं," "श्वस्" अर्थात् "कल," और "स्था" रहना, जो कल रहेगा या नहीं, यह भी अनिश्चित है। यह "अश्वत्थ" शब्दका शब्दार्थ है। इसकी उपमा संसारको दी गयी है, यह बहुत ही ठीक है क्योंकि संसार वस्तुत. "अश्वत्थ" अर्थात् अशाश्वत है।)

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

इसकी शाखाएं ऊपर नीचे फैली हुई हैं। सत्त्व, रज और तम गुण इसकी रसवाहिनी नसें हैं जिनसे इसका पोषण होता है। शब्द, रूप आदि विषय इसकी डालियां हैं। इसमें नीचे भी भोगकी इच्छारूप जड़ें निकली हैं, और इन जड़ोंके अनुसार इस लोकमें कर्म करनेकी प्रवृत्ति होती है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥

पर अश्वत्थका यह रूप, इसका आदि अन्त और इसकी गठन संसारी मनुष्यके ध्यानमे नही आती। तथापि जिसकी जडें गहरी गयी हैं ऐसे इस अश्वत्थको वैराग्यरूप दृढ शस्त्रसे काटकर।

तत पदं तत्परिमार्गितव्य यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूय।
तमेव चाद्य पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

वह स्थान ढूढ निकालना चाहिये जहा जानेसे फिर लौटना नही पडता, और साथ ही यह विचार करना चाहिये कि, जिससे ससारके प्रति यह पुरानी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है,मैं उसीकी शरणमें हू।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामा।
द्वन्द्वैर्विमुक्ता सुखदु खसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत्॥५॥

जिनका अहङ्कार और मोह दूर हो गया है, जो ससारसे अनुरागहीन हो गये हैं, जो सर्व्वदा स्मरण रखते हैं कि हम परमात्माके अश हैं, जिनकी कामनाएं दूर हो गयी हैं, जो सुख दु खादि द्वन्द्वोंसे मुक्त हो गये हैं ऐसे ज्ञानी यह शाश्वत पद पाते हैं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावक।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम॥६॥

जहा प्रकाशके लिये सूर्य्य, चन्द्र वा अग्निकी आवश्यकता नहीं है और जहा गये हुए लोग वापस नही आते, वही मेरा परम पद है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत सनातनः।
मन षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

मेरा ही सनातन अंश जीवलोकमें जीवका रूप धारण करता है, प्रकृतिमें—अनित्य पदार्थोंमें लगी हुई पाचों इन्द्रियों और छठे मनको वह उससे छुडाता है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

शरीरका वह स्वामी शरीर धारण करनेके बाद जब उसका त्याग करता है तब इन्द्रियोंको और मनको अपने साथ ले जाता है, जैसे वायु पुष्पादिकी गन्ध ले जाती है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

कान, आंख, चर्म, जीभ और नाकमें तथा मनमें रहकर वह शब्दादि विषयोंका भोग करता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

एक देहसे दूसरी देहमें जाते समय, वा एक ही देहमें रहते समय, भोग करते समय अथवा दुखदुखादि गुणोंसे युक्त रहते समय उस जीवको मूर्ख नहीं देखते पर जिनके ज्ञानरूप नेत्र है वे देखते हैं।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

प्रयत्न करनेसे योगी देखते हैं कि वह शरीरमें है, पर अज्ञानी और मूर्ख प्रयत्नसे भी नहीं देख सकते।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

जानो कि, समस्त जगत्‌को प्रकाश देनेवाला जो तेज सूर्य्यमें, चन्द्रमे और अग्निमें है, वह मेरा ही है।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः १३

मैं पृथ्वीमे सामर्थ्य रूपसे प्रवेशकर समस्त जीवोंको धारण करता हूं और रसमय चन्द्र होकर सब औषधियोंका पोषण करता हूं।

अहं वैश्वानरोभूत्वा प्राणिनां देहमाश्रित।
प्राणापानसमायुक्त पचाम्यन्न चतुर्विधम्॥१४॥

मैं जठराग्नि होकर प्राणियोकी देहमें रहता हूं और प्राण तथा अपान वायुसे मिलकर चतुर्विध (चबाकर खाने योग्य, चूसने योग्य, चाटने योग्य और पीने योग्य) अन्नको हजम करता हूं।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥१५॥

मैं प्रत्येकके हृदयमे प्रवेश करता हू। स्मरण, ज्ञान और तर्क मुझसे ही उत्पन्न होता है। सब वेदोंकी सहायतासे मैं ही जाना जाता हू, वेदांतका प्रवर्तक मैं हू और वेद जाननेवाला भी मैं ही हूं।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥१६॥

इस लोकमें नाशवन्त और अविनाशी दो पुरुष हैं। समस्त चराचरमे जो जड है वह क्षर अथवा नाशवन्त है और उसमें पर्वतशिखरके समान जो स्थिर है वह अक्षर अर्थात् अविनाशी है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

इनसे भिन्न जो उत्तम पुरुष है, वह परमात्मा कहाता है, वही अविनाशी सर्व्वश्रेष्ठ है, वह त्रैलोक्यमें व्याप्त रहकर उसका धारण और पोषण करता ।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम ॥१८॥

मै क्षरसे परे हू और अक्षरसे भी उत्तम हू, इसलिये लोकमें और वेदोंमें भी मुझे पुरुषोत्तम कहा है ।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

हे भारत, जो मोहसे मुक्त होकर मुझे ही पुरुषोत्तम समझता है वह सर्व्वज्ञ होता है और सब प्रकारसे मेरी ही उपासना करत है ।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

हे पापरहित अर्जुन, मैने तुम्हें यह अत्यन्त गुह्य शास्त्र बताया है जिसके जाननेसे मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य होगा ।

इति श्रीमद्भगवद्गीता० पुरुषोत्तमयोगो नाम

पञ्चदशोऽध्याय

अथ षोडश अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

निर्भीकता, प्रसन्नता, ज्ञानप्राप्तिके लिये उद्योगशीलता, दानशीलता, इन्द्रियसंयम, यज्ञ करना, स्वाध्याय, तप, सरलता ।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

अहिंसा, सत्य, अक्रोध, उदारता, शान्ति, चुगली न करना, जीव मात्रपर दया, निर्लोभ, नम्रता, शालीनता और गम्भीरता ।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, निर्द्वेष, अति अभिमान न करना,— हे भारत, ये गुण उसको प्राप्त होते हैं जिसने दैवी सम्पत्ति भोगनेके लिये ही जन्म ग्रहण किया है ।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥

हे पार्थ, दम्भ, गर्व, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान, ये उसको मिलते हैं जो आसुरी सम्पत्ति भोगनेके लिये जनमा है ।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

दैवी सम्पत्तिसे मोक्ष मिलता है और आसुरी सम्पत्तिसे बन्धन प्राप्त होता है। हे अर्जुन, तुम्हारा जन्म दैवी सम्पत्ति भोगनेके लिये हुआ है, तुम शोक मत करो।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।

दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

इस लोकमे प्राणियोंकी उत्पत्ति दो प्रकारकी है, दैवी और आसुरी। इनमे दैवी उत्पत्तिका वर्णन विस्तारके साथ किया जा चुका है, अब, हे पार्थ, आसुरी उत्पत्ति बताता हू, सुनो।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।

न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

असुर स्वभावके लोग नही जानते कि, किसमे प्रवृत्ति होनी चाहिये और किससे निवृत्ति, वे न पवित्रता जानते हैं, न आचार जानते हैं, और न उनमें सत्य ही रहता है।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।

अपरस्परसम्भूत किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

वे कहते हैं कि, "जगत्का कोई ईश्वर नही है, वेदादि प्रमाण झूठे हैं, धर्म्म और अधर्म्म कोई चीज नही है। परस्पर विरुद्ध गुणोसे इसकी उत्पत्ति होती है, स्त्री और पुरुषकी परस्परमें प्रवृत्ति इसका कारण है, इसके सिवा और क्या है?"

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धय ।

प्रभवन्त्युग्रकर्माण क्षयाय जगतोऽहिता ॥९॥

जो लोग जगत्का अहित करनेके लिये जन्म लेते हैं, वे ही यह मत मानते हैं, उनका चित्त नष्ट, उनकी बुद्धि अल्प और उनके कर्म्म क्रूर होते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विता ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

जो कभी तृप्त नहीं होता ऐसे कामका आश्रय ग्रहण कर, दम्भ, अभिमान और मदसे युक्त होकर तथा मूर्खताके कारण झूठी समझसे वे बुरे काम करने लगते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

जबतक जीते रहते हैं तबतक वे घोर चिन्तामें पड़े रहते हैं। उनका यह दृढ़ मत है कि, सबसे उत्तम कर्म्म कामोपभोग है, इसके सिवा संसारमें कुछ नहीं है।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥

वे शतशः आशापाशोंमें बँधकर, कामक्रोधमें प्रवृत्त होकर कामभोगके लिये अन्यायसे धनसंग्रह करते हैं।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

"आज मैंने यह धन कमाया, यह मनोरथ मैं साध्य करूंगा, मेरे पास इतना धन है, इतना और धन मुझे मिलेगा।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

"यह शत्रु मैंने मारा, और दूसरे मारूंगा, मैं स्वामी हूं, सुख भोगनेवाला मैं हूं, मैं कृतकार्य्य हो गया, मैं बलवान् हूं, मैं सुखी हूं।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

"मैं बड़ा धनी हूं, रईसके यहां मेरा जन्म हुआ है, मेरे समान और कौन है ? मैं यज्ञ करूंगा, मैं दान दूंगा, मैं आनन्द मनाऊंगा," अज्ञानसे अन्धे होकर वे इस प्रकार बर्राया करते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

अनेक मनोरथोंसे उनके चित्त विक्षिप्त हो जाते हैं, मोहजालसे वे घिर जाते हैं, और कामभोगमें वे आसक्त हो जाते हैं, इसलिये वे घृणित नरकमें जाते हैं।

आत्मसम्भाविताःस्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

वे अपनी प्रशंसा आप करते हैं (अपने मुंह मियां मिट्ठू बनते हैं,) बेढब अकड़ते हैं, धन और बड़प्पनके मदसे उन्मत्त हो जाते हैं; ऐसे लोग यज्ञ अवश्य करते हैं पर लोगोंको दिखानेके लिये—लोगोंके सामने शेखी बघारनेके लिये करते हैं; इसलिये उनका वह कर्म्म शास्त्रविरुद्ध होता है।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

"मैं" पन, बल, गर्व, काम और क्रोधकी सहायतासे वे द्रोही अपने और दूसरोंके शरीरमें रहनेवाले "मैं" की निन्दा किया करते हैं।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषुनराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

ऐसे द्रोही, क्रूर और अधम लोगोंको मैं जन्म मरणके चक्करमें डालकर अशुभ आसुरी योनियोमें ही उत्पन्न करता हूं।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

हे कौन्तेय, जनम जनम आसुरी योनियोमें उत्पन्न होनेवाले वे मूर्ख यदि मुझे प्राप्त न कर लें, तो अत्यन्त अधम गतिको प्राप्त होते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

नरकके ये तीन द्वार हैं; काम, क्रोध और लोभ। इनसे अपना नाश होता है, इसलिये इन तीनोंका त्याग करो।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

हे कौन्तेय, नरकके इन तीनो द्वारोंसे जो बचा रहता है वह अपना कल्याण करता है और उससे अन्तमें उत्तम गति पाता है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

जो वेदादि शास्त्रोंके विरुद्ध अपनी इच्छाके अनुसार बरतता है, उसको सिद्धि नही मिलती, सुख नही मिलता और उत्तम गति नहीं मिलती।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

इसलिये, कौनसा काम करने योग्य है और कौनसा अकर्त्तव्य है, इसके निर्णयमें शास्त्रोंको प्रमाण मानना चाहिये (शास्त्रमे यह जानकर कि, यह तुम्हारा कर्त्तव्य है, तुम्हें वह करना चाहिये।)

अर्थात् तुम्हारे अधिकारके अनुसार शास्त्रने तुम्हारे लिये जो कर्त्तव्य बनाया है उसे मानकर तुम्हे उसका पालन करना चाहिये।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः।

अथ सप्तदश अध्याय

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

हे कृष्ण, जो लोग शास्त्र विधिमें तो भूल करते है पर श्रद्धाके साथ भजन करते हैं, उनकी वह श्रद्धा सात्त्विकी है, कि राजसी है, कि तामसी है ?

श्रीकृष्ण उवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

सुनो, अपने अपने स्वभावके अनुसार मनुष्यकी श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है, सात्त्विकी, राजसी और तामसी ।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

हे भारत, प्रत्येक मनुष्यमें जितना सत्त्वांश रहता है उसकी श्रद्धा उसके अनुरूप होती है । प्राणी श्रद्धामय है, जिसकी जैसी श्रद्धा है वह प्राणी भी वैसा ही होता है ।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

सात्त्विक मनुष्य देवताओंकी पूजा करते हैं । राजस पुरुष

यक्ष-राक्षसोंकी पूजा करते हैं और तामस जन भूत प्रेतोंकी पूजा करते हैं ।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

दम्भ और अहङ्कारके वश होकर, आसक्ति और दुराग्रहके बलसे जो लोग शास्त्रविरुद्ध घोर तप करते हैं,

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

और शरीरस्थ पञ्चभूतोंको तथा उनके भीतर रहनेवाले मुझ-को भी कष्ट देते हैं, जानो कि, उनका निश्चय आसुरी है ।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिदं शृणु ॥७॥

प्रत्येकका प्रिय आहार भी तीन प्रकारका होता है । उसी प्रकार यज्ञ, तप और दान ये भी तीन तीन प्रकारके होते हैं । उनके भेद सुनो ।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

आयु, उत्साह, बल, आरोग्य, सुख और प्रेम बढ़ानेवाले रसयुक्त, स्निग्ध, पोषक और आनन्ददायक आहार सात्त्विकोंको प्रिय हैं ।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करनेवाले कड़ुवे, खट्टे, नमकीन, गरम, तीते, सूखे और तीव्र पदार्थ राजसोंको प्रिय हैं ।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

बिगड़े हुए या अध पके, रसहीन, जिनमें बू आने लगी हो, बासी, जूठे और अपवित्र अन्न तामसोंको प्रिय होते हैं।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

बिना फलकी इच्छा किये, मनका समाधानकर और अपना अनिवार्य्य कर्त्तव्य समझकर जो यज्ञ किया जाता है वह सात्त्विक है।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

पर हे भरतश्रेष्ठ, जो यज्ञ फलकी आशासे और दम्भके लिये अर्थात् नामके लिये किया जाता है, वह राजस है।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञ तामसं परिचक्षते ॥१३॥

अशास्त्र रीतिसे किया हुआ, मन्त्ररहित, अन्नदानरहित और श्रद्धारहित जो यज्ञ, वह तामस कहाता है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

देव, द्विज, गुरु और विद्वानोंकी पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य्य और अहिंसा,—इसे कायिक अर्थात् शारीरिक तप कहते हैं।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

किसीका जी न दुखानेवाला, सत्य, प्रिय और हितकारक भाषण और वेदाध्ययन, इसको वाचिक तप कहते हैं।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

चित्तकी प्रसन्नता, सौम्यता, मननशीलता, विषयोंसे विरक्तता, और भावोंकी शुद्धता,—इसे मानसिक तप कहते हैं।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते ॥१७॥

सात्विक तप तीन प्रकारके हैं, बिना फलकी आशासे किया हुआ तप, स्थिरचित्त होकर किया हुआ तप और उत्तम श्रद्धासे किया हुआ तप।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

मेरी प्रशंसा हो, मेरा सम्मान हो, लोग मेरी पूजा करें, इस अहङ्कारसे किये हुए चञ्चल और अस्थिर तपको राजस तप कहा है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

मूर्खताके कारण हठकर, अपने शरीरको कष्ट देकर अथवा दूसरेके सर्वनाशके लिये जो तप किया जाता है, वह तामस तप कहाता है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥२०॥

यह जानकर भी कि मुझे उपकारका बदला नहीं मिलेगा,

उपयुक्त स्थानमें और उचित समयपर दान देना मेरा कर्त्तव्य है, यह समझकर योग्य पात्रको जो दान दिया जाता है, वह सात्त्विक दान कहाता है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।

दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

उपकारके बदले उपकार पानेकी इच्छासे अथवा फलकी आशासे, अथवा दुःखित चित्तसे जो दान दिया जाता है, उसे राजस दान कहते हैं।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।

असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अयोग्य स्थानमें, अयोग्य समयमें, अयोग्य पात्रको अपमान और तिरस्कार करके जो दान दिया जाता है, उसे तामस दान कहते है।

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

"ॐ तत् सत्" ये तीन चिह्न ब्रह्मके नामके हैं, प्राचीन कालमें इन्हीं तीन नामोंसे ब्राह्मणोंकी, वेदोंकी और यज्ञोंकी उत्पत्ति हुई थी। अथवा "ॐ तत् सत्" इन तीन प्रकारोंसे ब्रह्मके नामका उच्चारण होता है। प्राचीन मत यह है कि, इनसे वेदाधिकार, वेदपठन, और यज्ञ करनेसे ये कार्य्य दोषरहित होते हैं।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।

प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

इस लिये विधानके अनुसार वेदविद् पुरुष सर्व्वदा ॐ उच्चारण करके यज्ञ, दान और तप करते हैं।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥

मोक्ष चाहनेवाले पुरुष फलकी आशा न कर 'तत्' उच्चारण पूर्वक यज्ञ, दान और तप सम्बन्धी अनेक प्रकारकी क्रियाएं करते हैं ।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

अस्तित्त्व और साधुत्त्व अथवा उत्तमत्त्व दिखानेके लिये "सत्" शब्दका प्रयोग किया जाता है, और, हे पार्थ, प्रशस्त अर्थात् उत्तम कर्म्मके अर्थमें भी "सत्" शब्दका प्रयोग होता है ।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

यज्ञ, तप और दानका अस्तित्त्व भी "सत्" कहाता है । और इनके लिये किये हुए कर्म्मको भी सत्कर्म्म कहते हैं ।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

हे पार्थ, श्रद्धाके बिना यज्ञ, तप, दान अथवा अन्य जो कोई कर्म्म किया जाता है उसे "असत्" कहते हैं । ऐसा कर्म्म न यहां किसी कामका है, न परलोकमें किसी कामका है ।

इति श्रीमद्भगवद्गीता० श्रद्धात्रयविभागयोगो
नाम सप्तदशोऽध्यायः

अथ अष्टादश अध्याय

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

हे महाबाहो, हे हृषीकेश, हे केशिदैत्यांतक, मैं "संन्यास" शब्दका और "त्याग" शब्दका भी प्रकृत अर्थ जानना चाहता हूं ।

श्रीकृष्ण उवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

कितने ही पण्डित काम्यकर्मके त्यागको संन्यास कहते हैं; अर्थात् किसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये कर्म न करना ही अनेक पण्डितोंके मतसे संन्यास है । और कई पण्डितोंका मत है कि, फलकी इच्छाका त्याग करके कर्म करते रहनेपर भी वह संन्यास कहाता है ।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

कई पण्डितोंका मत है कि कर्ममें दोष होता ही है इसलिये कर्ममात्रके त्यागको संन्यास कहना चाहिये । अन्य पंडित कहते हैं कि, यज्ञ, दान और तप ये कर्म होनेपर भी त्यागने योग्य नहीं हैं, इस लिये इनका त्याग अनावश्यक है ।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥४॥

हे भरतसत्तम, अब त्यागके सम्बन्धमें मेरा मत सुनो । हे पुरुषश्रेष्ठ, त्याग तीन प्रकारका होता है ।

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

यज्ञ, दान और तपका त्याग न करना चाहिये, क्योंकि इनसे बुद्धिमानोंका चित्त शुद्ध होता है ।

(अर्थात्, चित्तशुद्धिके लिये यज्ञ, दान और तपरूप कर्म्म आवश्यक हैं ।)

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

हे पार्थ, पर मेरा यह दृढ मत है, और यही मत उत्तम भी है कि, ये कर्म्म भी उनमें बिना आसक्त हुए तथा बिना फलकी आशा किये, करने चाहिये ।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

मनुष्यको अपने कर्त्तव्य कर्म्मका कभी त्याग न करना चाहिये, यदि भूलसे भी कर्त्तव्य कर्म्मका त्याग करोगे तो वह त्याग तामस होगा ।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

कर्म्मको केवल दुःख देनेवाला और शरीरको कष्ट देनेवाला

समझ कर भयसे कर्मका जो त्याग किया जाता है, वह राजस त्याग कहाता है। इससे त्यागका फल नहीं मिलता।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः॥९॥

हे अर्जुन, जो यह समझकर कर्म करता है कि कर्त्तव्यका करना आवश्यक है पर उस कर्म्मसे स्वयम् आसक्त नहीं होता, उसके त्यागको सात्विक त्याग कहते हैं।*

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥१०॥

जो मनुष्य कर्त्तव्यका वह भाग त्याग नहीं देता जो उसे अच्छा नहीं लगता, और कर्त्तव्यके उस भागमें आसक्त नहीं होता जो उसे अच्छा लगता है, जो सत्वगुणमें स्थित है, उसका सन्देह नष्ट हो गया है और वही प्रकृत संन्यासी है।

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥११॥

देहधारी यदि चाहे कि, मैं समस्त कर्म्मका त्याग करू, तो वह कभी हो ही नहीं सकेगा। कर्मका फल पानेकी इच्छाका जो त्याग करता है, वह सच्चा त्यागी कहाता है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्यासिनां क्वचित् १२

कर्म्मके फल तीन प्रकारके हैं, अनिष्ट, इष्ट और मिश्र।

---

* भगवान श्रीकृष्णके मतसे सन्यासका यह अर्थ नहीं है कि, मनुष्य निकम्मा हो जाय। वर फलकी आशा और आसक्ति त्यागकर कर्त्तव्यकर्म्म करनेवालेको ही भगवान प्रकृत—सात्त्विक सन्यासी कहते हैं।

त्यागियोंको यह फल मृत्युके बाद मिलता है पर सन्यासीको तब, सब समय मिलता है।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतांते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

हे महाबाहो अर्जुन, सांख्य शास्त्रमें कार्य्यके लिये आवश्क जो पाच कारण बताये हैं, वे सुनो ।

अधिष्ठान तथा कर्ता करण च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैव चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

(वे पाच कारण ये हैं :—) अधिष्ठान (शरीर,) कर्त्ता (जीव), भिन्न भिन्न प्रकारके कारण (इन्द्रिया), अनेक प्रकार-की चेष्टायें (श्वासोच्छ्वास), और दैव ।

शरीरवाङमनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नर· ।
न्याय्य वा विपरीत वा पञ्चैते तस्य हेतव ॥१५॥

मनुष्य जो कार्य्य करता है, वह शरीरसे किये गये हो या वचनसे, उचित हो या अनुचित, उसके कारण ये ही पाच हैं, अर्थात् शरीर, जीव, इन्द्रिया, श्वासोच्छ्वास और भाग्य, इन पाचोंके बिना कोई कार्य्य नहीं हो सकता ।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मान केवलं तु य· ।
पश्यन्त्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मति ॥१६॥

जिस अवस्थामें बुद्धि अपरिपक्क होनेके कारण जो अपनेको कार्य्यका करनेवाला समझता है, वह मूर्ख कुछ नही जानता ।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

अहङ्कारके बिना और कर्म्ममें आसक्त न होकर यदि कोई

इन सब लोगोंको मार डाले, तोभी उसको हत्याका दोष नहीं लगेगा और वह बद्ध भी न होगा।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना

करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

कार्य्य करनेकी प्रवृत्तिके लिये तीन बातोंकी आवश्यकता है—(१) ज्ञान, (२) ज्ञानका विषय अर्थात् ज्ञेय और (३) ज्ञाता अर्थात् जाननेवाला। कार्य्यके भाग भी तीन हैं, (१) साधन, (२) कर्म्म, और (३) करनेवाला।

टिप्पणी—मनुष्य जो इष्ट पदार्थ सिद्ध करना चाहता है उसे 'ज्ञेय' कहते हैं, "ज्ञेय अमुक उपायसे साध्य होगा"-मनका यह निश्चय "ज्ञान" कहाता है, और जिसके मनमें यह 'ज्ञान' उत्पन्न होता है वह "परिज्ञाता" कहाता है। कर्म्मकी प्रवृत्तिके लिये "ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता" इन तीन कारणोंकी आवश्यकता है। इन कारणोंके उपस्थित हो जानेपर कर्म्म करनेके लिये भी तीन प्रकारके आश्रयोंकी आवश्यकता है, (१) करनेवाला अर्थात् कर्त्ता, (२) कर्म—कर्त्ताकी क्रिया करनेकी इच्छाका भी पारिभाषिक शब्द 'कर्म' है, और (३) कर्म्म करनके इन्द्रियादि साधन। सारांश यह कि, ऊपर कहे हुए तीन प्रकारके कारणों और तीन प्रकारके आश्रयोंके बिना कोई कार्य्य नहीं होता।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।

प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

ज्ञान, कर्म्म और कर्त्ताके भिन्न भिन्न गुणोंके अनुसार इनमें प्रत्येकके जो तीन तीन भेद बताये गये हैं वे भी सुनो।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।

अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

जिस ज्ञानसे यह मालूम होता है कि, सब भूतोंमें जो भिन्न भिन्न भाव हैं उनमें एकमात्र अव्यय और अविभक्त पूर्णतया भरा हुआ है, उसे सात्विक ज्ञान कहते हैं।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

जिस ज्ञानसे यह प्रतीत होता है कि, सब भूतोंमें पृथक् पृथक् असंख्य भाव हैं, उसे राजस भाव कहते हैं।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

पर एक ही देहमें समस्त परमात्मा बन्द है, इस प्रकारकी प्रमाणहीन और असत्य संकुचित बुद्धि जिससे उत्पन्न होती है, उसे तामस ज्ञान कहते हैं।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

जो कर्म्म नित्य और नियमपूर्वक आसक्ति और रागद्वेष त्याग कर, फल पानेकी इच्छाके बिना किया जाता है, उसे सात्विक कर्म्म कहते हैं।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

पर किसी विशेष उद्देश्यसिद्धिके लिये अहङ्कारके वश होकर अत्यन्त कष्ट उठाकर जो कर्म्म किया जाता है, उसे राजस कर्म्म कहते हैं।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्
मोहादारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥२५॥

इस कर्मका परिणाम क्या होगा, इसमें व्यय कितना होगा, कष्ट कितना उठाना होगा, और मेरी सामर्थ्य कितनी है, इत्यादि विषयोंका विचार किये बिना ही मूर्खतासे जो कर्म किया जाता है, उसे तामस कर्म कहते हैं।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

जो कर्ता आसक्तिहीन है, अहङ्कारहीन है, धैर्य तथा उत्साहसे युक्त है, सफलता और असफलताका जिसपर भला बुरा परिणाम नहीं होता, उसे सात्त्विक कर्ता कहते हैं।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

जो कर्ता आसक्त है, जिसे फल पानेकी इच्छा है, लोभी है, घातक और अशुचि है, लाभ और अलाभसे सुखी और दुखी होता है, उसे राजस कर्ता कहते हैं।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

जो कर्ता कर्मका दुर्लक्ष्य करनेवाला, अपढ़, अक्खड़, दुष्ट, अकर्म्मा, दीर्घसूत्री, सदा असन्तुष्ट और आलसी है, उसे तामस कर्ता कहते हैं।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

हे धनञ्जय, गुणानुसार बुद्धिके और धृति अर्थात् धैर्यके भी तीन तीन भेद होते हैं, वे भी विस्तारके साथ बताता हूं।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

हे पार्थ, धर्म्ममें प्रवृत्ति होनी चाहिये, अधर्म्मसे निवृत्ति होनी चाहिये, किस समय क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये, किसमें भय है और किसमें अभय, किससे मनुष्य बन्धनमें पडता है और किससे मुक्त होता है, ये बातें जिस बुद्धिसे जानी जाती हैं, उसे सात्त्विकी बुद्धि कहते हैं ।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

हे पार्थ, जिस बुद्धिसे यह ठीक नहीं मालूम होता कि, धर्म्म क्या है, क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये, उसे राजसी बुद्धि कहते हैं ।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

हे पार्थ, अज्ञानसे ढकी रहनेके कारण जिस बुद्धिसे अधर्म्म धर्म्म जान पडता है और हित अहित मालूम होने लगता है, उसे तामसी बुद्धि कहते हैं ।

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३

हे पार्थ, जिस धृतिसे (धैर्य्यसे) चित्त एकाग्र होता है, जो धृति कभी विचलित नहीं होती और जिससे मन, प्राण तथा इन्द्रियोंकी क्रिया उत्तम रूपसे होती है, उसे सात्त्विकी धृति कहते हैं ।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

पर, हे अर्जुन, जिससे धर्म्म काम तथा अर्थ भली भांति सिद्ध होते हैं पर कभी कभी फलमें आसक्ति उत्पन्न होती है उसे राजसी धृति कहते हैं।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

परन्तु, हे पार्थ, जिससे निद्रा, भय, शोक, विषाद तथा उन्माद उत्पन्न होता है और जिससे दुर्बुद्धि नष्ट नहीं होती, वह तामसी धृति है।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

हे भरतर्षभ, सुख भी तीन प्रकारका है, वह सुनो। जिस सुखका परिचय बहुत दिनके अभ्याससे ही होता है और जिसके प्राप्त होनेसे दुःखका अन्त हो जाता है।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

जो प्रारम्भमें विषसा पर अन्तमें अमृतसा लगता है, जिसकी उत्पत्ति आत्मविचारमें लगी हुई तथा प्रसन्न बुद्धिसे होती है, वह सुख सात्विक कहाता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

जिस सुखकी उत्पत्ति विषय और इन्द्रियोंसे है तथा जो प्रारम्भमें अमृतसा पर अन्तमें विषसा लगता है, उस सुखको राजस सुख कहते हैं।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

जो सुख प्रारम्भमें और अन्तमें भी चित्तमें मोह उत्पन्न करता है, जिसकी उत्पत्ति निद्रा आलस्य और भ्रमसे होती है, उसे तामस कहते हैं।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

प्रकृतिके इन तीन गुणोंसे—सात्त्व, रज और तमसे मुक्त जीव स्वर्ग पृथ्वी और आकाशमें कहीं भी नहीं है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के—अर्थात् ज्ञानकी चर्चा और वृद्धि करनेवालों, देश और समाजकी बाहरी और भीतरी शत्रुओंसे रक्षा करनेवालों, देशकी सम्पत्ति बढ़ानेवालों, तथा इन तीनोंकी सेवा करनेवालोंके स्वाभाविक गुणोंके अनुरूप उनके कर्म भी भिन्न भिन्न होते हैं।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ॥४२॥

शम (चित्तको अपने अधीन करना) दम (बाह्य इन्द्रियोंका दमन करना), तप, शुचि, क्षमा, सरलता, शास्त्रज्ञान,

अनुभवज्ञान और परलोकविषयक श्रद्धा, ये ब्राह्मणोंके स्वभाव-सिद्ध कर्म्म हैं।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शूरता, तेजस्विता, धीरता, दक्षता, युद्धमें स्थिरता, उदारता और प्रभुता, ये क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म्म हैं।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

खेती, गोरक्षा और व्यापार ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म्म हैं। शूद्रका स्वाभाविक कर्म्म सेवा करना है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

जो लोग अपना अपना कर्म्म करते हैं उन्हें उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है। स्वकर्म्म करनेवालोंको सिद्धि कैसे प्राप्त होती है, वह सुनो।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

जिससे इस ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति हुई है और जिसकी सामर्थ्यसे यह चल रहा है, अपना अपना स्वाभाविक कर्म्म करने-वाला मनुष्य वस्तुतः उसीकी सेवा करता है और इसीसे ऐसे कार्य्यमें उसे सिद्धि प्राप्त होती है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

पर धर्म्मका आचरण यदि सहज भी हो तोभी उसकी अपेक्षा, सर्वथा दोषरहित न होनेपर भी स्वधर्म्म श्रेष्ठ है। स्वाभाविक कर्म्म करनेसे पाप नहीं लगता।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता ॥४८॥

हे कौन्तेय, दोषयुक्त होनेपर भी अपने स्वाभाविक कर्त्तव्य कर्म्मका त्याग कभी न करना चाहिये, क्योंकि, जैसे आग धुएँसे घिरी रहती है उसी प्रकार कर्म्ममात्रका आरम्भ दोषयुक्त होता है।

असक्तबुद्धि सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

पर कर्म्ममें अपनी बुद्धिको आसक्त न होने देना चाहिये, इस प्रकारके संन्याससे युक्त होकर अर्थात् कर्म्म फलकी इच्छाका त्यागकर कर्म्म करनेसे मनुष्य कर्म्मदोषसे मुक्त हो जाता है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

हे कौन्तेय, जिसे यह सिद्धि प्राप्त हुई है—अर्थात् जो ज्ञान-बलसे चित्तको स्वाधीन रख निरपेक्ष भावसे फलकी इच्छा किये बिना स्वकर्म्म करनेमें समर्थ हो गया है—उस पुरुषको ब्रह्मकी कैसे प्राप्ति होती है, यह विषय मैं संक्षेपमें समझाता हूं, सुनो। यह ब्रह्मप्राप्ति ज्ञानका ही उत्तम परिणाम है।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौव्युदस्य च ॥५१॥

शुद्ध बुद्धिसे युक्त होकर, धर्य्यसे अपने चित्तका नियमन-कर, शब्द स्पर्श रूप रस-गन्ध इन विषयोंसे इन्द्रियोंको छुड़ाकर, काम और क्रोधका संहारकर।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

एकान्त स्थानमें वासकर, मिताहारी बनकर, देह, वाक्य और मनको अपने अधीनकर, ध्यानबलसे परब्रह्ममें चित्तको लगाकर, पूर्ण वैराग्य धारणकर,

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

साथ ही अपने वैराग्यका अहङ्कार, दुराग्रह, दर्प, काम, क्रोध और परिस्थितिका प्रभाव और ममत्व त्यागकर जो पुरुष शान्त हुआ है, वह यह समझने योग्य हो गया है कि, "मैं ब्रह्म हूं।"

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

जो ब्रह्ममय हो गया है, वह सदा प्रसन्न रहता है, वह गयेका शोक नहीं करता और पानेकी इच्छा नहीं करता, जीवमात्रको समदृष्टिसे देखता है तथा मेरी परम-भक्ति प्राप्त करता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

भक्तिसे वह मुझे जान लेता है—मैं कितना बड़ा हूं, मैं क्या हूं, यह वह ठीक ठीक जान लेता है। और इस प्रकार मुझे तत्त्वतः जानते ही मुझमें प्रवेश करता है अर्थात् परमानन्दरूप होता है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

सब समय स्वकर्त्तव्योंका पालन करते हुए ही जो मेरी प्राप्तिकी इच्छा करता है, वह मेरी कृपासे अनादि और अव्ययपद प्राप्त करता है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

सब कर्म्मफलोंको चित्तसे मुझे अर्पणकर, मुझे ही परम प्राप्य समझकर, निश्चयात्मक बुद्धिसे मनको स्थिर करके चित्तको सदा मुझमें लगाओ।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

यदि तुम मुझमें चित्त लगाओगे, तो मेरी कृपासे समस्त दुःखोंसे पार हो जाओगे। पर यदि अहङ्कारके कारण मेरी बात न मानोगे तो तुम्हारा नाश होगा।

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

यदि अहङ्कारका आश्रयकर कहोगे कि, "मैं युद्ध नहीं करूंगा" तो तुम्हारा यह निश्चय कभी भी टिक न सकेगा, तुम्हारी प्रकृति ही तुमसे युद्ध करा देगी।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

हे कौन्तेय, तुम अपने स्वभावसिद्ध कर्मोंसे बंधे हो, यदि

मोहके वश होकर उन्हें करना न चाहोगे, तोभी अवश होकर वे तुम्हें करने ही होंगे।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

हे अर्जुन, परम बलवान् ईश्वर प्रत्येक भूतोंके हृदयमें वास करता है, वह अपनी मायासे जीवमात्रको चक्रपर चढ़ाकर फिरा रहा है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे भारत, तुम सब प्रकारसे उसी हृदयस्थित ईश्वरकी शरण जाओ। उसके प्रसादसे तुम परम शान्ति और शाश्वत पद पाओगे।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

अबतक मैंने तुमको गुह्यसे भी गुह्य ज्ञान बताया। इसपर भली भांति विचार करो, और बाद, जो जी चाहे वही करो।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

फिर मैं तुम्हें सबसे गुह्य बात बताता हूं, सुनो तुम मेरे परम प्रिय हो, इसीसे तुम्हारे हितकी बात कहता हूं।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

मुझमें मन लगाओ, मेरी भक्ति करो, मेरी पूजा करो, मुझे

नमस्कार करो। मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूं कि, तुम मुझमें ही मिलोगे, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरण व्रज।
अह त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच. ॥६६॥

चाहे जो धर्म्म हो, यदि वह मेरे उपदेशके विरुद्ध हो तो उसका त्याग करो और मेरी ही शरण ग्रहण करो। मैं तुम्हें सब पापोंसे छुड़ाऊंगा, शोक मत करो।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्य न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

जिसका चित्त स्वाधीन नही है, जिसकी ईश्वर और गुरुपर भक्ति नही है, जिसे हितकी बातें अच्छी नही लगतीं, अथवा जो मेरी निन्दा करता है, उसे यह बात बताने योग्य नही है।

य इदं परम गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशय ॥६८॥

जो मनुष्य यह परम गुह्य मेरे भक्तोंको बतावेगा, उसकी मुझपर दृढ भक्ति होगी और वह मुझसे ही मिलेगा, इसमें कुछ भी सन्देह नही है।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तम।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

उसकी अपेक्षा मेरा प्रिय कार्य्य करनेवाला मनुष्योंमे दूसरा कोई नही है और मुझे उससे अधिक प्रिय समस्त पृथ्वीपर दूसरा कोई न होगा।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्ट स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

मैं कहता हूं कि, हम दानोंके इस धर्म्मयुक्त सवादपर जो ध्यानपूर्वक विचार करेगा, उसके इस ज्ञानयज्ञसे मेरी ही पूजा होगी।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

जो मनुष्य श्रद्धायुक्त होकर और द्वेषसे दूर रहकर यह संवाद सुनेगा, वह सर्व पापोंसे मुक्त होकर उस लोकमें जायगा जिसमें पुण्य करनेवाले ही जाते हैं।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रणष्टस्ते धनञ्जय ॥७२॥

हे पार्थ, तुमने एकाग्रचित्त होकर यह सुना तो? हे धनञ्जय अज्ञानके कारण तुम्हारे मनमें जो मोह उत्पन्न हुआ था, अब तो वह नष्ट हो गया न?

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

हे अच्युत, तुम्हारी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया, मुझे पूर्वकी स्मृति प्राप्त हो गयी, सन्देह दूर हो गया; यह देखो मैं तुम्हारी आज्ञाका पालन करनेके लिये खड़ा हो गया हूं।

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

इस प्रकार रोमाञ्चन करनेवाला वासुदेवका और महात्मा अर्जुनका यह संवाद मैंने सुना।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयत स्वयम् ॥७५॥

यह परम गुह्य रव, स्वयम् योगेश्वर कृष्णके योगकी व्याख्या करते समय, उनके मुखसे और महर्षि व्यासकी कृपासे मैंने सुना ।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्य हृष्यामि च मुहुर्मुहु ॥७६॥

हे राजन्, केशवार्जुनका यह पुण्यकारक अद्भुत सवाद फिर फिर स्मरणकर मैं बार बार हर्षित हो रहा हू ।

तच्च सस्मृत्य सस्मृत्य रूपमत्यद्भुत हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुन ७७

और, हे राजन्, कृष्णके उस अद्भुत रूपका फिर स्मरण होनेके कारण मुझे बडा ही आश्चर्य हो रहा है तथा बार बार मैं आनन्दित हो रहा हूं ।

यत्र योगेश्वर कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

मेरा यह दृढ निश्चय हो गया है कि, जहां योगेश्वर कृष्ण हैं और धनुर्धारी अर्जुन है, वहीं राजलक्ष्मी है, वही विजय है, वहीं सतत उन्नति है और वहीं न्याय है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्याय ।

३२-रागिणी

ले०:मराठीके प्रसिद्ध उपन्यासकार

श्रीयुक्त वामन मल्हारराव जोशी एम० ए०
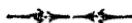
अनुवादक हिन्दी नवजीवनके सम्पादक तथा हिन्दीके प्रसिद्ध लेखक

श्रीयुक्त प० हरिभाऊ उपाध्याय

रागिणी है तो उपन्यास, परन्तु इसे केवल उपन्यास कहनेसे सन्तोष नहीं होता। क्योंकि आज कल उपन्यासोंका काम केवल मनोरञ्जन और मनबहलाव होता है। इसको [illegible] भी कह सकते हैं। इसमें जिज्ञासुओंके लिये जिज्ञासा, प्रेमियोंके लिये प्रेम और अशान्त जनोंके लिये विमल शान्ति मिलती है। वैराग्य खण्डका पाठ करनेसे मोह माया और जगत्‌की उलझनोंसे निकलकर मनमें स्वाभाविक ही भक्ति भाव उठने लगता है। देशभक्तिके भाव भी स्थान स्थानपर वर्णित हैं। लेखककी कल्पना शक्ति और प्रतिभा पुस्तकके प्रत्येक वाक्यसे टपकती है। सभी पात्रोंकी पारस्परिक बातें और तर्क पढ़ पढ़कर मनोरञ्जन तो होता ही है, बुद्धि भी प्रखर हो जाती है। भारतीय साहित्यमें पहले तो 'मराठी'का ही स्थान ऊँचा है फिर मराठी-साहित्यमें भी रागिणी एक रत्न है। भाषा और भावकी गम्भीरता सराहनीय है। उपाध्यायजीके द्वारा अनुवाद होनेसे हिन्दीमें इसका महत्व और भी बढ़ गया है। लेखककी लेखनशैली, अनुवादककी भाषा-शैली जैसी सुन्दर है, आकार भी वैसा ही सुन्दर, छपाई वैसी ही साफ है। ऐसी सर्वाङ्गपूर्ण सुन्दर पुस्तक आपके देखनेमें कम आवेगी। लगभग ८०० पृष्ठकी सजिल्द पुस्तकका मूल्य सुन्दर रेशमी सुनहली जिल्दका ४)

६—सेवासदन

लेखक उपन्यास-सम्राट् श्रीयुक्त "प्रेमचन्द"

हिन्दी संसारका सबसे बड़ा गौरवशाली सामाजिक उपन्यास। यह हिन्दीका सर्वोत्तम, सुप्रसिद्ध और मौलिक उपन्यास है। इसकी खूबियोंपर बड़ी आलोचना और प्रत्यालोचना हुई है। पतित सुधारका बड़ा अनोखा मन्त्र, हिन्दू समाजकी कुरीतियां जैसे अनमेल विवाह, त्यौहारोंपर वेश्यानृत्य और उसका कुपरिणाम, पाश्चिमीय ढङ्गपर स्त्री शिक्षाका कुफल, पतित आत्माओंके प्रति घृणाका भाव इत्यादि विषयोंपर लेखकने अपनी प्रतिभाकी वह छटा दिखायी है कि पढ़नेसे ही आनन्द प्राप्त हो सकता है। कुछ दिनोंतक सभी पत्रोंकी आलोचनाका मुख्य विषय यह उपन्यास रहा है। दूसरा संस्करण, मनोहर स्वदेशी कपड़ेकी सजिल्द पुस्तकका मूल्य २॥)

७—संस्कृत कवियोंकी अनोखी सूझ

लेखक पं० जनार्दन भट्ट एम०ए०

संस्कृतके विविध विषयोंके अनोखे भावपूर्ण उत्तमोत्तम श्लोकोंका हिन्दी भावार्थ सहित संग्रह। यह ऐसी खूबीसे लिखा गया है कि साधारण मनुष्य भी पढ़कर आनन्द उठा सके। व्याख्यानदाताओं, रसिकों और विद्यार्थियोंके बड़े कामकी पुस्तक है। दूसरा संस्करण, मूल्य ।≈)

८—लोकरहस्य

लेखक उपन्यास-सम्राट् श्रीयुक्त बंकिमचन्द्र चटर्जी

यह "हास्यरस" पूर्ण ग्रन्थ है। इसमें वर्तमान धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक त्रुटियोंका बड़े मजेदार भाव और भाषामें चित्र खींचा गया है। पढ़िये और समझ समझकर हँसिये। कई विषयोंपर ऐसी शिक्षा मिलेगी कि आप आश्चर्य्यमें पड़ जायगे। अनुवाद भी हिन्दीके एक प्रसिद्ध और अनुभवी हास्य रसके लेखककी लेखनीका है। बढ़िया एण्टिक कागजपर छपी पुस्तकका मूल्य ।≈)

३३—प्रेम-पचीसी

ले० उपन्यास-सम्राट् श्रीयुक्त प्रेमचन्दजी

प्रेमचन्दजीका नाम ऐसा कौन साहित्य प्रेमी है जो न जानता हो। जिस प्रेमाश्रमकी धूम दैनिक और मासिक पत्रोंमें प्राय बारह महीनेसे मची हुई है उसी प्रेमाश्रमके लेखक बाबू प्रेमचन्दजीकी रचनाओंमेंसे एक यह भी है। 'प्रेमाश्रम', 'सप्त सरोज', प्रेम पूर्णिमा' और 'सेवासदन' आदि उपन्यासों और क— निरो०। जिसने र। स्वादन किया है वह तो इसे बिना पढे रह ही नहीं सकता। इसमे शिक्षाप्रद मनोरञ्जक २५ अनूठी कहानिया हैं। प्रत्येक कहानी अपने अपने ढङ्गकी निराली है। कोई मनोरञ्जन करती है, तो कोई सामाजिक कुरीतियोंका चित्र चित्रण करती है। कोई कहानी ऐसी नहीं है जो धार्मिक अथवा नैतिक प्रकाश न डालती हो। पढनेमें इतना मन लगता है कि कितना भी चिन्तित कोई क्यों न हो प्रफुल्लित हो जाता है। भाषा बहुत सरल है। विद्यार्थियोंके पढने योग्य है। ३८० पृ० की पुस्तकका खद्दरकी जिल्द सहित मूल्य २।)—रेशमी जिल्दका २॥।)

३४—व्यावहारिक पत्र-बोध

ले० प० लक्ष्मणप्रसाद चतुर्वेदी

आजकलकी अंग्रेजी शिक्षामें सबसे बडा दोष यह है कि प्राय अंग्रेजी शिक्षित व्यवहार-कुशल नहीं होते। कितने तो शुद्ध बाकायदा पत्र लिखनातक नहीं जानते। उसी अभावकी पूर्तिके लिये यह पुस्तक निकाली गयी है। व्यापारिक पत्रोंका लिखना, पत्रोंका उत्तर देना, प्रार्थनापत्रोंका बाकायदा लिखना तथा आफिसियल पत्रोंका जवाब देना आदि दैनिक जीवनमें काम आनेवाली बाते इस पुस्तकद्वारा सहज ही सीखी जा सकती हैं। व्यापारिक विद्यालयों (Commercial Schools) की पाठ्य पुस्तकोंमें रहने लायक यह पुस्तक है। अन्यान्य विद्यालयोंमें भी यदि पढायी जाय तो लड़कोंका बडा उपकार हो। विद्यार्थियोंके सुभीतेके लिये ही लगभग १२५ पृ० की पुस्तककी कीमत ॥=) रखी गयी है।

२८—राजनीति-विज्ञान

ले० सुखसम्पति राय भण्डारी

आज भारत राजनीति-निपुण न होनेके कारण ही दासताकी यातनाओंको भोग रहा है। हिन्दीमें राजनीतिकी पुस्तकोंका अभाव जानकर ही यह पुस्तक निकाली गई है। मुनरोस्मिथ, रो, ब्लंशले, गार्नर आदि पाश्चात्य राजनीति विशारदोंके अमूल्य ग्रन्थोंके आधारपर यह पुस्तक लिखी गई है। राजनीति-शास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, इकरार-सिद्धान्त, शक्तिसिद्धान्त, राज्य और राष्ट्रकी व्याख्या आदि राजनीतिके गूढ़ रहस्योंका प्रतिपादन बड़ी खूबीसे इस ग्रन्थमें किया गया है। इस राजनीतिक युगमें राजनीति-प्रेमी प्रत्येक पाठकको इस पुस्तककी एक प्रति पास रखनी चाहिये। राष्ट्रीय स्कूलोंकी पाठ्य पुस्तकोंमें रखी जाने योग्य है। २१६ पृ० की पुस्तकका मूल्य १।=) है।

२९—आकृति-निदान

ले० जर्मनीके प्रसिद्ध जल-चिकित्सक डा० लूईकूने

सम्पादक-रामदास गौड़ एम० ए०

आज संसार डाक्टर लूईकूनेके आविष्कारोंको आश्चर्यकी दृष्टिसे देखता है। उसी लूईकूनेकी अंग्रेजी पुस्तक 'The Science of Facial Expression' का यह अनुवाद है। इसमें लगभग ६० चित्र दिये गये हैं, जो बहुत सुन्दर आर्ट पेपरपर छपे हैं। उन चित्रोंके देखनेसे ही झट मालूम हो जाता है कि इस चित्रमें दिये हुए मनुष्यमें यह बीमारी है। सब बीमारियोंकी प्राकृतिक चिकित्सा-विधि भी बतलाई गयी है। यदि पुस्तक समझ कर पढ़ी जाय और चित्रोंका गौरसे अवलोकन किया जाय तो मनुष्य एक मामूली डाक्टरका अनुभव सहज ही प्राप्त कर सकता है। इतने चित्रोंके रहते भी पुस्तकका मूल्य केवल १॥) रखा गया है।

३५—रूसका पञ्चायती-राज्य

ले० प्रोफेसर प्राणनाथ विद्यालंकार

जिस बोल्शेविज्मकी धूम इस समय संसारमें मची हुई है, जिन बोल्शे-विकोंका नाम सुनकर सारा यूरोप कांप रहा है उसीका यह इतिहास है। जारके अत्याचारोंसे पीड़ित प्रजा जारको गद्दीसे हटानेमें कैसे समर्थ हुई, मजदूर और किसानोंने किस प्रकार जार-शाहीको उलटनेमें काम किया, आज उनकी क्या दशा है इत्यादि बातें जाननेको कौन उत्सुक नहीं है ? प्रजातन्त्र-राज्यकी महत्ताका बहुत ही सुन्दर वर्णन है। प्रजाकी मर्जी बिना राज्य नहीं चल सकता और रूस ऐसा प्रबल राष्ट्र भी उलट दिया जा सकता है, अत्याचार और अन्यायका फल सदा बुरा होता है इत्यादि बातें बड़े सरल और नवीन तरीकेसे लिखीं गयी हैं। लेनिनकी बुद्धिमत्ता और कार्यशैली पढ़कर दांतों तले अँगुली दबानी पड़ती है। किस कठिनता और अध्यवसायसे उसने रूसमें पंचायती राज्य स्थापित किया इसका विवरण पढ़कर मुर्दा दिल भी हाथों उछलने लगता है। १३६ पृ० की पुस्तकका मूल्य केवल ।।।৶ मात्र रखा गया है।

३६—टाल्स्टायकी कहानियां

सं० श्रीयुक्त प्रेमचन्दजी

यह महात्मा टाल्स्टायकी संसार-प्रसिद्ध कहानियोंका हिन्दी अनुवाद है। यूरोपकी कोई ऐसी भाषा नहीं है जिसमें इनका अनुवाद न हो गया हो। इन कहानियोंके जोड़की कहानियां सिवा उपनिषदोंके और कहीं नहीं हैं। इनकी भाषा जितनी सरल, भाव उतने ही गम्भीर हैं। इनका सर्वप्रधान गुण यह है कि ये सर्व-प्रिय हैं। धार्मिक और नैतिक भाव कूट कूटकर भरे हैं। विद्यालयोंमें छात्रोंको यदि पढ़ाई जायँ तो उनका बड़ा उपकार हो। किसानोंको भी इनके पाठसे बड़ा लाभ होगा। पहले भी कहींसे इनका अनुवाद निकला था परन्तु सर्वप्रिय न होनेके कारण उपन्यास सम्राट् श्रीयुक्त प्रेमचन्दजी-द्वारा सम्पादित कराकर निकाली गयी हैं। सर्वसाधारणके हाथोंतक यह पुस्तक पहुंच जाय इसीलिये मूल्य केवल १৶ रक्खा गया है।